जैन तथ्य जो आधुनिक विज्ञान से परे (ज्ञान धारा–3)

Jain Facts : Beyond Modern Knowledge

करें साक्षात्कार यथार्थ सत्य का

लेखक :– वैज्ञानिक धर्माचार्य श्री कनकनंदी जी

द्रव्यदाता 1) नाथुलाल जैन – श्रीमती गेन्दी देवी
हेमन्त – श्रीमती प्रीति, जितेश, निर्देश

आ. श्री कनकनंदी जी द्वारा रचित साहित्य विमोचन
करते हुए आ. महाप्रज्ञ, भेंट कर्ता सोहनराज तातेड

षष्टम् अंतर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठी में आ.श्री के ग्रंथों का विमोचन करते हुए
डॉ. बी.एल. चौधरी (कुलपति, सु.वि.), डॉ.एन.एल. कच्छारा, सुशीलचंद्र जैन,
डॉ. शेखरचंद्र जैन, डॉ. चीरंजीलाल बगडा, राजेंद्र धाकड आदि

JAIN FACTS : BEYOND MODERN KNOWLEDGE

जैन तथ्य जो अधुनिक ज्ञान से परे (ज्ञान धारा – 3)

करें साक्षात्कार यथार्थ सत्य का

(आधुनिक समस्यायें एवं समाधान)

(विविध शोध निबन्ध)

1) धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान एवं
2) धर्म दर्शन सेवा संस्थान ग्रन्थांक-145

लेखक :- आचार्य कनकनन्दीजी गुरुदेव

संस्करण :- प्रथम (2005)
प्रतियाँ :- 1000
मूल्य :- 50.00 रु.
द्रव्यदाता 1) नाथुलाल जैन – श्रीमती गेन्दी देवी
हेमन्त – श्रीमती प्रीति, जितेश, निर्देश
जितेश फार्मा डिस्ट्रब्यूटर
12 अे पार्श्वनाथ दवा बाजार हजारेश्वर कॉलनी
(उदयपुर), फोन–कार्या. –2413009, घर–2461341
2) भेरुलाल जैन सेक्टर नं. 11,
3) फ्रांस के पर्यटक

प्रकाशक/द्रव्यदाता
धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान
एवं धर्म दर्शन सेवा संस्थान
WWW.jainkanaknandi . org
Email - info@jainkanaknandi.org

–: प्राप्ति स्थान :–

(1) 'धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान'
C/o प्रो. सुशीलचंद्र जी जैन, निकट दि. जैन धर्मशाला, बडौत
जि. बागपत (यू.पी.) फोन – (01234) 252845

(2) 'धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान'
C/o श्रीमती लक्ष्मी गुरुचरण जी जैन (वकील–मुंबई हाइकोर्ट)
144 मूवी टॉवर, नियर मिल्लत नगर लोखंडवाला कॉम्पलेक्स,
अंधेरी (पश्चिम) मुंबई–400053 फोन–(022) 26327152, 26312124

(3) 'धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान'
C/o सेवाश्री सुरेखा जैन (शिक्षिका) W/O वीरेन्द्रकुमार डालचंदजी जैन,
कपडे के व्यापारी,–सलूम्बर जि. उदयपूर–313001 फोन–(02906) 231143

(4) 'धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान'
C/o श्री महावीर कुमार जैन,
13 अग्रसेन कॉलोनी दादाबाडी, कोटा फोन–(0744) 2410818, 2363992

(5) 'धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान'
श्री दि. जैन नया मंदिर, C/o श्री धरमचंद जी एवं मनसुख सेठ (जैन)
निचला बाजार, प्रतापगढ जि. चित्तौडगढ (राज)–312605
फोन–(01478) 220304, 222229, 222529

(6) Pradhyuman & Dhanlaxmi Zaveri
2223 Gianera st.
Santa clara CA 95054-1321 USA.
Tel. -(001) 408495 6993, Cell-9726725594
E-mail : laxmizaveri@yohoo.com

(7) धर्म दर्शन सेवा संस्थान
C/o चंद्रप्रभ दि. जैन मंदिर, आयड़
छोटूलाल चित्तौडा, आयड बस स्टॉप के पास,
उदयपुर (राज)–313001 फोन–(0294) 2413565

टाईप सेटिंग
आर्यिका ऋद्धिश्री एवं क्षुल्लक सच्चिदानंद
संघस्थ आ. कनकनंदीजी गुरुदेव

करें साक्षात्कार यथार्थ सत्य का

(आधुनिक समस्यायें एवं समाधान)

इस कृति का संक्षिप्त परिचय

सत्य ही सार्वभौम, शाश्वतिक, वैश्विक, सर्वश्रेष्ठ, सर्वज्येष्ठ होने से सत्य ही सर्वोपरि है। उस परमसत्य/महासत्ता/निरपेक्ष सत्य के अनंत आयाम/पहलु/रूप/भेद होने से सत्य के अनंत रूप होते हैं। परमसत्य (धर्म, आत्मा, मोक्ष, सुख, द्रव्य) को प्राप्त करने का उपाय/निमित्त/साधन है – व्यवहार सत्य/सापेक्ष सत्य। सत्य के भी अनेक रूप हैं। यथा–

1) सामाजिक सत्य (स्वस्थ सामाजिक रचना के नियम)
2) नैतिक सत्य (दूसरों के लिए अपीडाकारक व्यवहारिक नियम)
3) धार्मिक, संघ, संगठनात्मक सत्य (आध्यात्मिक सत्योपलब्धि के लिए प्रयासरत समूह के नियम)
4) पारिवारिक सत्य (स्वस्थ परिवार रचना के नियम)
5) राष्ट्रीय सत्य (सुराज्यपूर्ण स्वराज्य रचना के नियम यथा- संविधान, कानून)
6) अंतर्राष्ट्रीय सत्य (अंतर्राष्ट्रीय सुव्यवस्था के लिए नियम कानून आदि) इन प्राथमिक भूमिका रूपी व्यवहार सत्य से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ से श्रेष्ठोत्तर हैं –
7) मानसिक सत्य/वैचारिक सत्य/उद्देश्यात्मक सत्य। इससे भी श्रेष्ठ श्रेष्ठतम है –
8) भावानात्मक सत्य अथवा स्वयं सत्य-भावमय/सद्भावमय पूर्णता को प्राप्त करना।

प्रकरान्तर से स्वस्थ सामाजिकसत्य से नैतिकसत्य, नैतिकसत्य से धार्मिकसत्य, धार्मिकसत्य से आध्यात्मिक सत्य (परम सत्य) उत्तरोत्तर श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर श्रेष्ठतम हैं। पूर्व-पूर्व सत्य के पालन के बिना उत्तरोत्तर सत्य की उपलब्धि संभव नहीं है। जो सामाजिक, नैतिक आदि सत्य का पालन नहीं करता है, वह धार्मिकसत्य को प्राप्त नहीं कर सकता और

धार्मिकसत्य की उपलब्धि के बिना आध्यात्मिकसत्य को प्राप्त नहीं कर सकता है। हाँ, यह संभव है कि उत्तरोत्तर सत्य की उपलब्धि होने पर पूर्व-पूर्व के सत्य स्वयमेव छूट जाते हैं। जैसा कि उत्तरोत्तर सोपान प्राप्त करने पर पूर्व-पूर्व के सोपान छूट जाते हैं। परंतु जो उत्तरोत्तर सोपान को प्राप्त किये बिना पूर्व-पूर्व के सोपान को छोड देते हैं वे नीचे पतित हो जाते हैं अर्थात् आगे बढने के लिए पिछला छोडना चाहिए तथा पिछला छोडते हुए आगे बढना चाहिए। यह नियम प्रायः समस्त शिक्षा, दीक्षा, विकास, व्यक्तित्व, कार्य, साधना, प्रभावना, लक्ष्य आदि में लागु होता है। सुव्यवस्थित, सत्य-तथ्यात्मक क्रमबद्ध प्रयास/पुरुषार्थ से ही समस्त समस्याओं का समाधान होता है तथा यथार्थ सत्य का साक्षत्कार होता है, जो उन-उन समस्याओं में ढँका हुआ था, अर्थात् प्रत्येक समस्या में समाधान छिपा हुआ रहता है, केवल उसे सम्यक् पुरुषार्थ से उद्घाटित करने की देरी है/आवश्यकता है।

इस कृति में मैंने आधुनिक अनेक ज्वलन्त समस्याओं का शीतल समाधान करने का सनम्र प्रयास किया है। भावना है इस कृति के अवलम्बन से उत्तप्त समस्याओं का शीतल समाधान हो और व्यक्ति से लेकर विश्व में सत्यपूर्ण-समतामय-शांति का प्रकाश हो।

वैज्ञानिक धर्माचार्य श्री कनकनंदी जी गुरुदेव
सर्वऋतुविलास– उदयपूर (राज.)
25–1–2005

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	प्रकरण	पेज नं.
	अन्तरंग भूमि (करें साक्षात्कार यथार्थ सत्य का)	
	A treaties in two volumes by Aacharya Kanaknandiji	
	आचार्य कनकनंदी का दो भागों में निबद्ध ग्रंथ	
(1)	जैन धर्म की कुछ विषेषतायें/मौलिकतायें	1
(2)	साक्षरी श्रेष्ठ या संस्कारवान् – सक्षम	4
(3)	क्षमावाणी पर्व दूसरों के लिए नहीं परन्तु क्षमावान पर्व स्वयं से प्रारंभ होता हैं।	10
(4)	भारतीय संस्कृति की जीवन कृति – ग्रामीण संस्कृति (मुंगाणा, बोरिया, गनोडा ग्राम सम्बन्धी मेरी अनुभूति)	13
(5)	बड़ों के गुरु – बच्चे (बच्चों से प्राप्त षिक्षायें)	17
(6)	स्व–पर दुःखद पुण्य से सुखद पाप भी श्रेष्ठ ! (सच्चा पुण्यात्मा सम्पत्तिवाला नहीं, सद्भावना वाला हैं।)	21
I)	नरकायु के बन्ध के परिणाम	26
II)	नरकों के दुःखों का वर्णन	30
III)	दुःखद पुण्य एवं उसके फल के कुछ उदाहरण	35
(7)	साधुत्व – सम्बोधन ! (हे साधकात्मन् ! प्रसिद्धि/प्रेय से मुक्त होकर सिद्धि/श्रेय से युक्त हो)	42
I)	पंचमकाल में भाव मुनियों का सद्भाव	46
II)	पंचमकाल में मुनियों की एक वर्ष की तपस्या चतुर्थकाल के 1000 वर्ष के समान	49
III)	सिद्धि एवं श्रेय मार्ग	52
IV)	परमात्म स्वरूप	59
(8)	क्या आत्मा का वजन 21 ग्राम है ?	60
(9)	साधुओं की विहार नीति एवं चातुर्मास पद्धति	65

(10) वैज्ञानिकों के लिए भी षोधनीय तत्त्व (साहित्य समीक्षा) 70
(11) आचार्य श्री कनकनन्दी जी की षिक्षा–पद्धति 76
(12) मनुष्य एक विरोधाभाषी अवचेतन संतुष्टी प्राणी 79
I) सुख सम्बन्धी विरोधाभाषी अवचेतन संतुष्टी 80
II) धर्म सम्बन्धी विरोधाभाषी अवचेतन संतुष्टी 81
III) व्यवहार सम्बन्धी विरोधाभाषी अवचेतन संतुष्टी 82
IV) आधुनिकता/प्रगतिषीलता विरोधाभाषी अवचेतन संतुष्टी 84
VI) मनोरंजन/खेल सम्बन्धी विरोधाभाषी अवचेतन संतुष्टी 85
(13) सर्वोदयी परम वैज्ञानिक विष्वनेता भ. महावीर 97
(14) गैस से बना हुआ भोजन क्या साधु एवं गृहस्थ योग्य है ? 102
I) अन्न–मन–तन–आचरण का अन्तः सम्बन्ध 105
(15) नारी की अरि स्वयं नारी 108
(16) अहितकारी भी है ज्ञान 110
(17) कौन होते हैं यथार्थ से धार्मिक ? 114
(18) प्रत्येक धर्मावलम्बी स्व–स्व धर्म विरोधी 117
(19) जीवन्त महापुरुष क्यों होते हैं – तिरस्कृत 122
(20) आत्मा है न मोक्ष–सुख : सबसे बडा है सांसारीक सुख 130
(21) आदर्ष साधु के कर्तव्य – अकर्तव्य 135
(22) साधु एवं श्रावकों के दोषों के लिए परस्पर भी उत्तरदायी 140
(23) आई एम डंकी मीन्स इण्डियन्स आर डंकीज् 146
(24) भो भारतीय ! आधुनिकः भवो ! 150
(25) छठी अन्तरोष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठी की विषेषताएँ 154
(26) प्राचीन भारत के राष्ट्रीय एवं वैष्विक गीत/गाने का स्वरुप 156
(प्राचीन भारत के वैष्विक गणतंत्र/प्राणीतंत्र)
* आचार्य श्री कनकनंदी जी गुरुदेव के संघ के विषेष कार्यक्रम 161
* आचार्य कनकनंदी जी द्वारा रचित ग्रंथ 163

अन्तरंग–भूमि

करें साक्षात्कार यथार्थ सत्य का

"असतो मा सद्गमय ! तमसो मा ज्योतिर्गमय ! मृत्योर्मा अमृतंगमय !" का रहस्य यह है कि सत्य की उपलब्धि के लिए असत्य का विसर्जन; ज्योति की प्राप्ति के अर्थ अन्धकार का त्याग तथा अमृत (ईश्वरत्व) के रसास्वादन के लिए मृत (नश्वर) का परित्याग अनिवार्य है, परन्तु "गतानुगतिक लोको न लोकः पारमार्थिकः" के अनुसार साधारणतः लोक/व्यक्ति गतानुगतिक/परम्परा का अन्धानुकरण करता है। इसमें भी वह "एकस्य कर्म समीक्ष्य करोत्यन्योऽपि गर्हितम्" अर्थात् किसी व्यक्ति के निन्दनीय कर्म को देखकर दूसरा भी अन्धाधुन्ध उसकी नकल करने लगता है। परन्तु दूसरों के अच्छे कर्म/गुणों का आदर, प्रशंसा, सम्मान, अनुकरण नहीं करता है। इसके कारण ही व्यक्ति, परिवार,समाज, राष्ट्र, विश्व में असत्य, अन्धकार, मृत्यु, विनाश, दुःख, कष्ट, संक्लेश, तनाव, युद्ध आदि व्याप्त हैं।

मोह (अज्ञानता, भौतिकता) से मोहित व्यक्ति हर विषय को मोह की दृष्टि से देखता है, जानता है, महत्व देता है जिससे वह वास्तविक सत्य-तथ्य से अनभिज्ञ होता है। इसके कारण मोही अनन्त परमसत्य और अक्षय परमानन्द से वंचित हो जाता है। मोह, अज्ञानता, भौतिकता आदि के कारण व्यक्ति संकीर्ण, स्वार्थी, लोलुप, ईर्ष्यालु, द्वेषी, कामी, अहंकारी, ममकारी, फैशनी, व्यसनी, ढोंगी, पाखण्ड़ी बन जाता हैं, जिससे उसके शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, वैश्विक, आध्यात्मिक विकास अवरुद्ध हो जाता है, मन्द पड़ जाता है, विकृत हो जाता है। अतएव सर्वांगीण, वैश्विक, सार्वभौमिक, शाश्वतिक विकास के कुछ सूत्रों का दिग्दर्शन इस " करें साक्षात्कार यथार्थ सत्य का" कृति में किया गया है।

इस कृति में मैंने उन सब साधारण में निहीत असाधारण शिक्षाओं का समावेश किया है जिसको साधारणतः साधारण व्यक्ति सामान्य (हेय) मानकर उपेक्षा करके स्वयं को उपेक्षणीय सामान्य व्यक्ति बना देता है। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार मन्द दृष्टि स्थूल वस्तु को देखने में समर्थ होने पर भी सूक्ष्म वस्तु को नहीं देख पाती, उसी प्रकार स्थूल ज्ञान-भावना-उद्देश्य से युक्त साधारण व्यक्ति सूक्ष्म मानसिक, भावनात्मक, नैतिक, धार्मिक,

आध्यात्मिक, सत्य-तथ्य, रहस्य, उद्देश्य से अनभिज्ञ होकर स्थूल बौद्धिक, शैक्षणिक, शारीरिक, भौतिक आड़म्बरपूर्ण विषयों को जानता है, मानता है और आचरण करता है। इससे वह महान् लाभों से वंचित रह जाता है। जैसा कि एक चित्रकार या कवि प्रकृति का चित्रण रंग या शब्द से करके जो लाभ स्व-पर को पहुँचा सकता है उससे भी स्व-पर को अधिक लाभ एक योग्य वैद्य, डॉक्टर या वैज्ञानिक पहुँचा सकता है। यह सब अन्तर उसके ज्ञान, उद्देश्य, उपयोग के कारण होता है, वैसा ही धर्म, शिक्षा, व्यवहार, व्यक्ति, पुण्य आदि के लिए भी जान लेना चाहिए। निम्न में कुछ महत्वपूर्ण परन्तु सूक्ष्म विषय के परिवर्तन में कम महत्वपूर्ण परन्तु स्थूल विषयों को साधारणतः साधारण व्यक्ति किस प्रकार महत्व देते हैं उसका संक्षिप्त दिग्दर्शन करा रहा हूँ।

(1) करें साक्षात्कार यथार्थ धर्म का :-

वस्तुतः धर्म का यथार्थ स्वरूप प्रत्येक वस्तु का स्व-स्व-शुद्ध स्वरूप है। जीव की अपेक्षा धर्म का स्वरूप है "भाव की पवित्रता तथा दूसरों से सद् व्यवहार"। एतदर्थ जो कुछ क्रिया-प्रक्रिया, विधि-विधान है वह सब धर्म के लिए बाह्य कारण है, साधन है, परन्तु क्रियादि से भाव में पवित्रता नहीं आती है तथा दूसरे जीवों को कष्ट पहुँचता है तो वह सब क्रियाएँ धर्म या धर्म के साधक न बनकर अधर्म या धर्म के बाधक बन जाती हैं। जैसा कि "प्रत्यक्षे मार्यते सर्पः गोमयेष्वपि पूज्यते" अर्थात् जीवन्त सर्प को मारते हैं परन्तु गोबर का सर्प बनाकर उसकी पूजा करते हैं। वैसा ही प्रायः प्रत्येक प्रकार के धार्मिक सम्प्रदायों के लोग अपनी-अपनी परम्परा व रीति-रिवाजों का पालन करते हुए भी भाव की पवित्रता तथा दूसरों के साथ सद्व्यवहार प्रायः नहीं करते हैं, इतना ही नहीं बाह्य रीति-रिवाज से स्व-पर, पर्यावरण आदि को भी क्षति पहुँचाते हैं।

(2) करें साक्षात्कार यथार्थ शिक्षा का :-

जिससे मनुष्य का शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, आध्यात्मिक विकास हो उसे शिक्षा कहते हैं न कि केवल कुछ अक्षरों का रटना। जिसके पास धन होता है वह यथार्थ से धनी है न कि केवल 'धन' रूपी शब्द का

प्रयोग करने वाला। वैसा ही जिससे भी सर्वांगीण विकास होता है वह शिक्षा न कि केवल कुछ अक्षरों की जानकारी। "आचारेण विहीनेन साक्षरा एव राक्षसा" के अनुसार जिसके आचार-विचार आदर्श नहीं हैं, वह साक्षरा होकर भी राक्षसा है। जैन तीर्थंकर, महात्मा बुद्ध, कबीर आदि तथाकथित स्कूली शिक्षा प्राप्त किए बिना भी महान् ज्ञानी, आदर्श थे। यदि स्कूली शिक्षा को ही शिक्षा माना जावे तो वे सब अशिक्षित, गंवार, अनादर्श हो जायेंगे।

(3) करें साक्षात्कार छोटों की गरिमा का :-

मन्दिर, मकान, महल, वृक्ष आदि का मूल भाग नहीं दिखाई देने पर भी वह भाग जिस प्रकार महत्वपूर्ण होता है और परमाणु नहीं दिखाई देने पर भी जिस प्रकार वह शक्तिशाली होता है तथा समस्त भौतिक पदार्थों का मूलतत्त्व होता है उसी प्रकार छोटे-छोटे अच्छे भाव, व्यवहार, बच्चे, ग्राम आदि के बारे में जान लेना चाहिए। जिस प्रकार मकान, गाड़ी, टी. वी., कम्प्यूटर, वस्त्र, पानी, औषधि, भोजन आदि स्थूल भौतिक वस्तु से भी सूक्ष्म प्राणवायु की उपयोगिता, महत्ता अधिक है उसी प्रकार भोले-भाले, सरल-सहज बच्चें तथा ग्रामों का महत्व बडों तथा नगर से अधिक है।

रहिमन देख बड़न को लघु न दीजै डार ।
जहाँ काम आवे सूई तहाँ क्या करे तलवार।।

तलवार तो केवल मारना-काटना आदि विनाशात्मक काम कर सकती है परन्तु सूई जिस प्रकार के जोड़ना-सिलाई करना आदि रचनात्मक कार्य कर सकती है, उसी प्रकार तलवार नहीं कर सकती। इसी प्रकार बड़ों के या नगरों के बड़प्पन, अक्खडपन, दिखावा, आड़म्बर, फैशन-व्यसन, भौतिकता का महत्व बच्चों या ग्रामों की सरल-सहजता, सभ्यता - संस्कृति के समक्ष खोटा है, छोटा है। बच्चों की सरलता आदि के बिना बड़े जिस प्रकार तनावपूर्ण जीवन जीते हैं, उसी प्रकार ग्रामीण संस्कृति की सहजता के बिना नगरीय जीवन तनावपूर्ण है। इतना ही नहीं, ग्रामीण उपज यथा अनाज, फल, सब्जी, दूध, घी आदि के बिना नगरवासी जीवित नहीं रह सकते हैं। तथापि बच्चों एवं ग्रामों को नादान, गंवार मानकर उन्हें महत्व नहीं देते हैं।

(4) करें साक्षात्कार नैतिकता, आध्यात्मिकता का :-

जिस प्रकार अनन्त समय या आकाश के समक्ष समस्त सूर्य, नीहारिका आदि बहुत छोटे हैं उसी प्रकार नैतिकता के समक्ष भौतिकता

तथा आध्यात्मिकता के समक्ष सम्प्रदाय, धार्मिक क्रिया-काण्ड़ अत्यन्त मूल्यहीन हैं। क्या वात्सल्य, प्रेम, आदर, सद्व्यवहार, सद्विचार, प्रार्थना, पूजा, धर्मज्ञान, आत्मज्ञान का मूल्यांकन ब्रह्माण्ड़ की किसी भी भौतिक वस्तु से संभव है ? क्या पूजा, धर्मज्ञान आदि से भौतिक वस्तु, भोग, नाम, प्रसिद्धि आदि चाहना; पूजा ज्ञान आदि के मूल्य को तुच्छ करना नहीं है ? एक वात्सल्यमयी माता की सेवा का मूल्य क्या एक कामकाजी महिला के आर्थिक लाभ से कम है ? एक परोपकारी आध्यात्मिक गुरु का उपदेश (प्रवचन, ज्ञानदान) का मूल्य क्या उस शिक्षक से कम है जो अपने शिक्षण से धन प्राप्त करता है ? ऐसे ही नैतिकता, सद्विचार, सद्व्यवहार, धर्म, पूजा, तप, त्याग, आध्यात्मिकता का मूल्यांकन भौतिक मूल्य से करना ही उसके मूल्य को कम करना या विपरीत करना है। नैतिकता, सेवा, समता आदि के भौतिक मूल्य लेना या उससे तुलना करना व्यापार है, बाजारवाद है, तृष्णा है, निदान है, पापानुबन्धी पुण्य है, नैतिक पतन है, आध्यात्मिक मृत्यु है, अधर्म है, मिथ्यात्व है, नास्तिकता है । क्योंकि इसमें विपरीत भाव, अन्धविश्वास, अविवेक, संकीर्ण-स्वार्थपरता, मिथ्याचार है। इससे ही स्व-पर इहलोक-परलोक विकास के बजाय विनाश ही सम्भव है। इसके कारण भौतिकता, सत्ता, सम्पत्ति, प्रसिद्धि, बाह्य-तप-त्याग, स्वार्थपूर्ण-बुद्धि आदि को सेवा, परोपकार, सरल-सहजता-पवित्रता, समता, नीति आदि से अनुचित अधिक महत्व मिलता है जिससे भौतिकता आदि की गरिमा बढ़ती है, तथा सेवा आदि की गरिमा घटती है।

इस पुस्तक के लेखन कार्य में चन्द्रगुप्त जैन (L.LB.), हितेश जैन (IX) प्रियंका जैन (बोरीया), नीलेश जैन, चन्द्रिका जैन, दीपिका जैन, शैलबाला जैन, अनिता जैन (मुंगाणा), निशा जैन, शर्मिला जैन, मीनु जैन (कालाजी गोराजी, उदयपुर) का योगदान रहा, उन्हें तथा द्रव्यदाता, प्रकाशक, कम्पोजिटर, संस्थान के कार्यकर्ता तथा सहयोगियों को मेरा शुभाशीर्वाद। विश्व मानव इस कृति से यथार्थ सत्य का परिज्ञान करके "सत्यं शिवं सुन्दरम्" बने ऐसी शुभ-भावना के साथ-

आचार्य कनकनन्दी (बोरीया)
फरवरी - २००४

JAIN FACTS: BEYOND MODERN KNOWLEDGE

A treaties in two volumes by Aacharya Kanaknandiji

Most reverend Jainacharaya Kanaknandiji has dedicated his life to the quest of profound scientific knowledge that forms the basis of Jain philosophy. In the course of this quest he has not only unraveled the mysteries of this universe, its constituents, and the laws that govern their behavior, as described in the Jain Aagams, he has also undertaken to bring forth this knowledge to the attention of the world. Aacharyashri is a prolific writer. He has written 142 th books on Jain philosophy, metaphysics, and epistemology. The present books are the 143 rd and 144th in the series and mark an important step in Aacharyashri's mission of demonstrating the scientific anilogical basis of the Jain philosophy.

The modem science, as we know it, is devoted to the understanding of the physical matter, its qualities, and the forces that govern its behavior. Science has indeed gone a long way in understanding the nature of the minute particles that constitute matter, the various forces, such as the forces of gravity and magnetism and !he electromotive forces that pervade this universe, and the relationship between energy and matter. Science has even explored the phenomena that govern the nature and attributes of our physical body, delving into such areas as the DNA and the genomes. However, astounding as the discoveries of our modem science are, there is still so much to know and learn. Our knowledge is incomplete, uncertain and partial. New discoveries often negate or disprove what we once believed to be true, and a true scientist is the first to acknowledge that we still stand at the periphery of a vast ocean of knowledge and that much of the universe is Still unknown to us.

The knowledge of the physical is but just one aspect of knowledge. What are more important, but vastly more difficult to comprehend, are the nature and quality of the living, the soul. Jain philosophy provides a scientific and logical description of the nature of both the physical and the spiritual, and of the relationship between the spirit or soul and the physical or the non-living. In gaining an understanding of the physical nature of substance Jain thought has ventured into fields that go beyond our modem scientific knowledge, and ancient Jain philosophers and sages have discoursed on areas of knowledge far ahead of their time. One must

understand here that the knowledge that Kevalis, the omniscient, possessed was complete and absolute but only a miniscule part of that knowledge has been made available to us by the learned through the Aagams. However miniscule, that part still stands at the forefront of scientific discovery.

What must be emphasized is that it is in understanding the nature of soul and its destiny, rather than in knowledge of physical matter, that the Jain philosophy is most impressive. As stated earlier, modem science does not even touch this vast field of knowledge, which provides the very basis for our existence.

Through his writings Aacharyashri has attempted to bring before his readers the contributions of Jain thought to the understanding of the living and the physical. He has epeatedly demonstrated how the Jain thought is singularly logical and scientific in its enunciation. He often states that Dharma provides a complete basis for the understanding of this universe and its constituents, both animate and inanimate, while the modem science deals only with the physical and even there its understanding is often incomplete, faulty and misleading.

The present work provides a research oriented, spiritual, philosophical, scientific and mathematical exposition of the wealth of knowledge that resides in the Jain philosophy. Acharyashri states that while modem science -provides an explanation for the physical phenomena of nature on the basis of a study of the fundamental particles that constitute all matter and the forces that govern the behavior of such particles, Jain philosophy deals with the entity that gives life, and how it is affected by its association with Karmic particles and the Karmic forces. It provides a rather unique and thoroughly logical theory of interaction between the Karmic particle and the soul and the transmigration of such. particles with the soul. The soul, in fact, serves as the medium that holds a record of the influx, bondage, stoppage, and stripping of karmic particles. Aarchayashri goes on to explain in detail the many facets of knowledge that the Jain philosophy has explored, and how it has been a pioneer in such exploration. Following are some of these areas:

Jain philosophy has always maintained that there is the universe is without a beginning or an end, everlasting and eternal, but continuously undergoing transformation. Modern science has also embraced this concept.

Jain religion has provided the most comprehensive description of the nature of both the animate and the inanimate. The proposition that the animate (Jeevas) exists in two forms, as embodied souls and as liberated soul, is a unique concept. Even more astounding in its logical brilliance is the division *of* the embodied or the mundane souls into *sthavar,* having one sense organ and embracing in its scope the earth, water, fire, wind and vegetation, and the *tras* having two to five sense organs.

Equally brilliant is the Jain description of matter or inanimate and its constituents, the *anu* or atom and the *skandh* or molecule. Jainism has also recognized that energy is a form of matter. It is interesting to note that it was not until Einstein's discoveries that our modem science came to the same conclusion.

These are but some of the highlights of the scientific and logical philosophy of Jainism. Jain philosophy provides a comprehensive description of the universe and the animate and inanimate that constitutes it. It also discusses the meaning of 'our existence, the purpose of this life and its destiny, and the forces that control that destiny.

The present work, as well as others that preceded it, provides the most valuable source for a study of the Jain philosophy and how it is based on sound scientific, mathematical and logical reasoning. Through his. writings and his kind and compassionate nature Acharyashri has inspired so many to seek the truth and understand the meaning and purpose of their life. I offer my most profound and humble regards to Aacharyashri not only for his virtuous, pure and serene lifestyle, but also for his brilliance and scholarship, and his commitment to opening the treasures of Jain thought for everyone to see and admire and learn from..

Jagmohan Humar, Ph.D.
Distinguished Research Professor
Carleton University
Ottawa, Canada
Phon - 001- 6237360783
E Mail- jhumar@ccs.carleton.com

आधुनिक ज्ञान से परे जैन तथ्य

डॉ. जे.एम.हुम्मड, विशिष्ट शोध प्रो.केनाडा.

(आचार्य कनकनंदी का दो भागों में निबद्ध ग्रंथ)

परमपूज्य जैनाचार्य कनकनंदी जी ने अपना संपूर्ण जीवन उस वैज्ञानिक ज्ञान की गवेषणा को समर्पित कर रखा है जो कि जैन दर्शन का मूल आधार है। इस गवेषणा के अन्तर्गत उन्होंने न केवल जैनागमों में वर्णित इस ब्रह्माण्ड के रहस्यों, उसके घटकों और उसके नियामक नियमों को उद्घाटित किया है अपितु इस ज्ञान को विश्व के सम्मुख रखने का भी बीडा उठया है। आचार्य श्री एक बहुकृतिक लेखक हैं। उन्होंने जैन दर्शन, सिद्धान्त व ज्ञान मीमांसा पर 146 पुस्तकें लिखी हैं। ये पुस्तकें इस श्रेणी में 143 वीं एवं 144 वीं हैं तथा ये आचार्य श्री के जैन दर्शन के वैज्ञानिक व तार्किक आधार को प्रदर्शित करने के लक्ष्य की ओर दो महत्वपूर्ण डग हैं।

जैसा कि ज्ञात ही है, आधुनिक विज्ञान, भौतिक द्रव्यों, उनके गुणों व उनकी नियामक शक्तियों को समझने-समझाने को समर्पित हैं। अपने इस लक्ष्य के अनुरूप विज्ञान वास्तव में द्रव्य के सूक्ष्म कणों, ब्रह्माण्ड में व्याप्त गुरुत्वाकर्षण, चुम्बकत्व का विद्युतवाही बलों जैसी अनेक शक्तियों को तथा द्रव्य ऊर्जा संबन्धों को समझाने की दिशा में बहुत आगे बढा है। विज्ञान ने D.N.A. व जीनोम जैसे उन तथ्यों को भी खोज निकाला है जो हमारे भौतिक शरीर की प्रकृति व उसकी विशेषताओं को निर्दिष्ट करते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक उपलब्धियाँ कितनी ही चमत्कारी क्यों न हो, अभी भी बहुत कुछ जानने सीखने को शेष है। हमारा ज्ञान अधूरा है, अनिश्चित है तथा एकांगी है। नये आविष्कार बहुधा उन तथ्यों को नकारते व असिद्ध करते हैं जिनपर कभी हम विश्वास करते थे, जिनकी सत्यता को हम स्वीकार करते थे। एक सच्चा वैज्ञानिक इस बात को मानने में आगे रहता है कि हम अभी भी ज्ञान के महासागर के किनारे खडे हैं तथा ब्रह्माण्ड का अधिकतर भाग अभी भी अज्ञात है।

भौतिकता का ज्ञान सर्वांगीण ज्ञान का अंश मात्र है। जीवात्मा की प्रकृति व गुणों का अधिगम उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण व कहीं अधिक कठिन है। जैन दर्शन भौतिक व आध्यात्मिक दोनों के स्वरूपों का न केवल वैज्ञानिक व तार्किक विवरण प्रस्तुत करता है अपितु उनके अन्तरसंबन्धों का भी विवेचन

करता है। पदार्थ के भौतिक स्वरूप को समझने के प्रयासों में जैन मीमांसा उन स्थलों तक गयी है जो आधुनिक विज्ञान के लिए अभी भी अनछुए हैं तथा प्राचीन जैन दार्शनिकों व ऋषियों ने ज्ञान के उन आयामों का उपदेश किया है जो उनके समय से बहुत आगे थे। हमें यह समझना चाहिए कि सर्वज्ञ केवलियों का ज्ञान सर्वांग, संपूर्ण व असीम था किंतु परवर्ती ज्ञानियों द्वारा उस ज्ञान का एक सूक्ष्म अंश ही हमें आगमों के माध्यम से उपलब्ध कराया जा सका है। फिर भी वह सूक्ष्म अंश भी आज वैज्ञानिक खोजों के आगे खडा है।

यहाँ इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि जैन दर्शन की विशेषता भौतिक पदार्थों के ज्ञान की अपेक्षा आत्मा के स्वभाव, उसकी दशा के रहस्योद्घाटन में है, जैन दर्शन इसी क्षेत्र में अधिक प्रभावी है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आधुनिक विज्ञान हमारे अस्तित्व की आधारभूत इस विशाल ज्ञानराशि को स्पर्श ही नहीं करता है।

अपने लेखन के माध्यम से आचार्य श्री ने जीव व भौतिक जगत् को समझने के लिए जैन मीमांसा के योगदानों को अपने पाठकों के सम्मुख रखने का प्रयास किया है। उन्होंने बार - बार यह प्रदर्शित किया है कि जैन विचारधारा इन क्षेत्रों के अपने निरुपण में किस प्रकार वैज्ञानिक व तर्कसंगत है। वे अक्सर कहते हैं कि धर्म इस ब्रह्माण्ड व इसके (जीव व अजीव) घटकों को समझने के लिए एक संपूर्ण आधार प्रदान करता है जबकि आधुनिक विज्ञान केवल उसके भौतिक अंश से ही संबन्ध रखता है और वहाँ भी उसका ज्ञान बहुधा अपूर्ण, त्रुटिपूर्ण व भ्रामक होता है।

यह ग्रंथ जैन दर्शन में विद्यमान ज्ञाननिधि का गवेषणात्मक, आध्यात्मिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, गाणितिय विवरण प्रस्तुत करता है। आचार्य श्री कहते हैं कि जहाँ आधुनिक विज्ञान द्रव्य के मूलभूत कणों व उनके व्यवहार के नियामक बलों के आधार पर प्रकृति के भौतिक तथ्यों का विवेचन करता है, जैन दर्शन जीव सत्व को विवेचित करता है तथा इस सत्व पर कर्म कणों व कर्म बलों के प्रभाव पर विचार करता है। यह आत्मा तथा कर्म कणों की पारस्परिक क्रिया एवं आत्मा से संश्लिष्ट कर्म कणों का आत्मा के साथ ही भव भ्रमण का पूर्णतः तार्किक व अनुपम सिद्धान्त प्रतिपादित करता है। वास्तव में आत्मा तो कर्म कणों के आस्रव, बंध, संवर व निर्जरा का लेखा-जोखा रखने का एक माध्यम है। आचार्य श्री जैन दर्शन द्वारा गवेषित ज्ञान के अनेक आयामों की विस्तृत विवेचना करते हैं तथा यह बताते हैं कि यह दर्शन किस

प्रकार इस गवेषणा में अग्रणी हैं। इस गवेषणा के कुछ क्षेत्र निम्नानुसार हैं -
1) जैन दर्शन ने सदैव यह माना है कि यह ब्रह्माण्ड अनादि अनंत है किंतु सतत परिवर्तनशील है। आधुनिक विज्ञान भी इस तथ्य को अंगीकार करता है।
2) जैन धर्म ने जीव व अजीव दोनों के स्वरूपों का सर्वांग संपूर्ण विवरण दिया है। जीव के शरीरी व मुक्त दो रूपों में विद्यमानता की अवधारणा अनूठी है। शरीरी जीवों के एकेन्द्रिय-पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि व वनस्पति कायिक स्थावर व द्विइंद्रिय से पंचेन्द्रिय त्रस रूपों की अवधारणा उससे भी विशिष्ट है।
3) अजीव द्रव्य व उसके घटकों को जैन दर्शन द्वारा प्रदत्त वर्णन भी समान रूप से चमत्कृत करने वाला है। जैन दर्शन न केवल परमाणु व स्कंध अपितु द्रव्य के ऊर्जा रूप को भी मानता है। यह जानना रोचक होगा कि आइन्स्टीन की खोज के उपरान्त ही आधुनिक विज्ञान इस निष्कर्ष पर पहुँचा है।

ये वैज्ञानिक व तार्किक जैन दर्शन की कुछेक विशेषतायें हैं। जैन दर्शन में ब्रह्माण्ड तथा उसके जीव व अजीव घटकों का विस्तृत विवरण उपलब्ध है। यह हमारे अस्तित्व के अर्थ व जीवन के उद्देश्य और लक्ष्य तथा उनके नियामक बलों का भी विवेचन करता है।

इस ग्रंथ तथा इसके पूर्ववर्ती ग्रंथों में जैन दर्शन के अध्ययन के लिए बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध है जो यह दिखाती है कि यह दर्शन किस प्रकार सुदृढ वैज्ञानिक व गाणितीय आधार तथा तर्कपूर्ण तर्कणा पर आधारित है। आचार्य श्री ने अपने लेखन तथा दयालु व संवेदनशील स्वभाव से अनेकों लोगों को सत्य तथा अपने जीवन के अर्थ व लक्ष्य की खोज के लिए किया है। मैं आचार्य श्री को न केवल उनके शुद्ध व सदाचारी जीवन के लिए अपितु उनकी मेधा, विद्वत्ता तथा जैन ज्ञाननिधि को सर्व सुलभ करने के गुणों के लिए भी सविनय नमन करता हूँ। आशा करता हूँ कि सभी उनके साहित्य के माध्यम से जैन-दर्शन की इन विशेषताओं को देख, जान व समझ पाएंगे।

जगमोहन हुम्मड, पीएच. डी.
विशिष्ट शोध प्राध्यापक कार्लटन विश्वविद्यालय,
ओटावा, केनाडा फो.-001- 6237360783
E Mail- jhumar@ccs.carleton.com

1 जैन धर्म की कुछ विशेषतायें/ मौलिकतायें

मैं अनेक वर्षों से अनेक साहित्य, लेख, प्रवचन, चर्चा, संगोष्ठी, शिविर आदि में जैन धर्म की महानता, विशेषता, मौलिकता, वैज्ञानिकता, व्यापकता, उदारता आदि के बारे में प्रकाश ड़ालता आ रहा हूँ तथापि इस लेख में सरल भाषा में सामान्य जन के लिए कुछ विशेषताओं के बारे में प्रकाश ड़ाल रहा हूँ। इसका कारण यह है कि अन्य लेखादि उच्चस्तरीय व्यक्तियों के लिए उच्च एवं गहन भाषा तथा पद्धति से होने से सामान्य व्यक्तियों के लिए समझना कठिन हैं। अतः कुछ व्यक्तियों के अनुरोध से सामान्य जन के हित के लिए यह कार्य प्रारंभ किया है।

(1) जैन धर्म विश्व एवं विश्व के समस्त चेतन-अचेतन द्रव्यों को अकृत्रिम शाश्वतिक मानता है, अतः इसके निर्माता, पालक, संहार कर्ता को नहीं मानता है।

(2) प्रत्येक जीव स्व-स्व कर्म के अनुसार जन्म-मरण, सुख-दुःख को भोगता है, अतः जीव को सुख-दुःखादि देने में अन्य कोई शक्ति/ईश्वर आदि की मान्यता नहीं है।

(3) मनुष्य जिस प्रकार सुख-दुःख अनुभव करता है और क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रसन्नता, शोक, काम-भाव आदि से प्रेरित है उसी प्रकार वनस्पतिकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, पृथ्वीकायिक जीव में भी जान लेना चाहिए।

(4) प्रत्येक भव्य जीव योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के माध्यम से पुरुषार्थ करते हुए भगवान्/परमात्मा बन सकता है। परमात्मा संख्या की दृष्टि से अनन्तानन्त है। परमात्मा पुनः जन्म ग्रहण/अवतार ग्रहण नहीं करते हैं।

(5) जैन धर्मावलम्बी केवल मनुष्य ही नहीं हो सकते हैं परन्तु पशु-पक्षी, देव, नारकी, भूत, प्रेत, राक्षस भी हो सकते हैं। केवल इसमें शर्त है सत्य-निष्ठा, भाव की पवित्रता, व्यवहार में आदर्शता।

(6) कुछ पशु आध्यात्मिक दृष्टि से सामान्य मनुष्य से लेकर राजा-महाराजा तथा सामान्य स्वर्ग के देवों से भी श्रेष्ठ हो सकते हैं।

(7) जैन तीर्थंकरों का केवल लाखों मनुष्य ही शिष्यत्व स्वीकार नहीं करते हैं, बल्कि लाखों पशु-पक्षी, असंख्यात स्वर्ग के देव भी स्वीकार करते हैं।

(8) स्व कर्मानुसार मनुष्य मरकर भगवान्, देव, नारकी, पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि बन सकता है तो पशु मरकर देव, मनुष्य, नारकी और देव मरकर मनुष्य, पशु-पक्षी बन सकता है। देव मरकर देव एवं नारकी तथा नारकी मरकर नारकी एवं देव नहीं बन सकते हैं। पशु-पक्षी, देव, नारकी, वनस्पति, कीट-पतंग भी कालान्तर में भगवान् बन सकते हैं। भगवान् बनने के पूर्व तक प्रायः प्रत्येक जीव अनन्त बार मनुष्य, देव, नारकी, पशु-पक्षी, वृक्ष बन चुका होता है।

(9) सूर्य, चंद्र, ग्रह आदि असंख्यात-असंख्यात हैं अर्थात् इनकी संख्या अनेक करोड़ों-अरबों से भी अधिक है।

(10) प्रत्येक जीव मरने के बाद स्व-कर्मानुसार अधिक से अधिक तीन समय (सेकण्ड़ का करोड़वाँ भाग) में जन्म ग्रहण कर लेता है।

(11) सामान्य से सामान्य देव (भूत, राक्षस आदि) भी स्व कंठ से झरने वाला अमृतपान करके तृप्त होते हैं। वे मनुष्य के समान भोजन-पानी आदि ग्रहण नहीं करते हैं। अतः अज्ञानता के कारण मनुष्य जो कुछ फल-फूल, बलि (मांस) मद्य आदि देवों के लिए चढ़ाते हैं उसे वे भोजन रूप से ग्रहण नहीं करते। मनुष्य के शरीर में देव आते हैं, भूत-प्रेत दिखाई पड़ते हैं, मनुष्य को सताते हैं ये सब प्रायः झूठ है, अन्ध-श्रद्धा है, मानसिक स्तर पर है या सूक्ष्म शब्द-तरंग, प्रतिध्वनि, छाया, प्रति-छाया, छाया पुरुष आदि हैं।

(12) भगवान् अनन्त ज्ञान, सुख, वीर्य (शक्ति/सामर्थ्य), दया-करुणा, अक्षय-दातृत्व-शक्ति आदि अनन्त वैभव सम्पन्न होने पर भी उनकी पूजा/प्रार्थना करने वालों के प्रति भी राग करके उन्हें कुछ भी नहीं देते हैं, सहायता नहीं करते हैं, पूजा नहीं करने वालों या उन्हें नहीं मानने वालों या यहाँ तक की उनके प्रति द्वेष रखने वालों अथवा निन्दा करने वालों को भी किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचाते हैं, तथापि भगवान् के प्रति किसी भी प्रकार के अच्छे भाव, व्यवहार करने वालों को उसके प्रतिफल स्वरूप अच्छे फल मिलते हैं तथा खोटे भाव, व्यवहार करने वालों को खोटा फल मिलता है। यह सब उसके भाव व्यवहार के अनुसार (प्रतिफल/प्रतिवर्ती क्रिया-रिफ्लेक्शन) मिलता है। भगवान् तो केवल निमित्तमात्र / माध्यम है।

(13) जैनधर्म कर्म को केवल भावात्मक संस्कार मात्र ही नहीं मानता, परन्तु उसमें भौतिक-कर्म परमाणुओं को भी स्वीकार करता है।

(14) जैन धर्म जातिगत/वंशानुगत/जन्मगत/परिवारगत नहीं है अर्थात् किसी निश्चित जाति आदि में जन्म लेने से कोई धार्मिक नहीं बन जाता है। समझने के लिए उदाहरण रूप में यथा -एक परिवार के सदस्य पहले से ही जैन धर्मावलम्बी हैं तो उस परिवार में जन्म ग्रहण करने वाले प्रत्येक व्यक्ति जन्मतः ही जैन नहीं बन जाता है। भले लोकव्यवहार से उसे जैन मान लिया जाता है। यथार्थ से जैन/धार्मिक तब बनता है जब वह परम सत्य का यथार्थ से विश्वास करता है, जैसा कि शिक्षक के प्रत्येक बच्चे जन्मतः शिक्षक, वैज्ञानिक के प्रत्येक बच्चे जन्मतः वैज्ञानिक, राष्ट्रपति के प्रत्येक बच्चे जन्मतः राष्ट्रपति नहीं होते हैं।

(15) विश्व के प्रत्येक चेतन, अचेतन द्रव्य परस्पर सहयोगी/

उपकारी/प्रभावकारी होते हैं अर्थात् केवल "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" ही नहीं परन्तु "परस्परोपग्रहो द्रव्याणाम्" है। इसके बिना किसी भी द्रव्य की सत्ता, अवस्था, परिणमनशीलता, क्रिया, अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व आदि संभव नहीं हैं, तथापि प्रत्येक द्रव्य वस्तु स्वातंत्रता की अपेक्षा पृथक्- पृथक्/मौलिक है।

(16) जैन धर्म में आंशिक सत्य को 'नय' एवं पूर्ण सत्य को 'प्रमाण' माना है। आंशिक को आंशिक एवं पूर्ण को पूर्ण सापेक्ष दृष्टि से मानने पर सत्य मानता है परन्तु निरपेक्ष दृष्टि से मानने पर मिथ्या/असत्य मानता है। इसकों जैन धर्म के महान सिद्धान्त अनेकान्तवाद/सापेक्षवाद या नयवाद/स्याद्वाद कहते हैं।

(17) भाव की शुद्धता के लिए सब धार्मिक व्रत-नियम, पूजा-पाठ, रीति-रिवाज, क्रिया-काण्ड हैं। यदि भाव शुद्धि के लिए व्रतादि कारण नहीं बने तो उस व्रतादि को धर्म नहीं कहा जाएगा।

(18) शाकाहार एकेन्द्रिय जीवों के प्रायः निर्जीव/अचित्त शरीर हैं तो मांसाहार त्रस जीवों के सजीव/सचित्त शरीर हैं। क्योंकि भले मांस, अण्डा, चर्म, रक्त को अग्नि से भी पकाया जाये तथापि उसमें हर समय उस जाति के असंख्यात त्रस जीव होते हैं। जैसा कि गाय का माँस है तो उस माँस में कच्ची अवस्था में, पकते समय एवं पकने के बाद भी गाय जातीय असंख्यात सूक्ष्म जीव होते हैं। इसके साथ मांसाहार से शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य खराब हो जाता है।

(19) माँस तथा दूध प्राणीज होने पर भी दोनों समान नहीं हैं क्योंकि दोनों की रासायनिक संरचना तथा मात्रा अलग-अलग हैं। थन को धोकर के शुद्ध हाथों से शुद्ध बर्तन में यदि निरोग दूधारु मादा से दूध निकालते हैं तो वह दूध 48 मिनिट तक सम्पूर्ण जीवों से रहित होता है। 48 मिनिट के पहले उस दूध को पर्याप्त गरम करने से वह दूध 24 घन्टे तक शुद्ध रहता है। 24 घन्टे के मध्य में उससे बनने वाली वस्तु यथा दही, मट्ठा, घी आदि भी शुद्ध होते हैं। उसमें किसी भी प्रकार के जीव नहीं होते। हाँ ! यदि माता से कृत्रिम उपाय से इंजेक्शन आदि से दूध निकालते हैं, या उसका शिशु को पर्याप्त दूध उपलब्ध न करा के दूध निकाल लेते हैं अथवा अमर्यादित अशुद्ध दूध है उसका सेवन भी माँस भक्षण के समान दोषकारक हो जायेगा।

(20) असत् से सत् की या चेतन से अचेतन या अचेतन से चेतन की उत्पत्ति जैनधर्म स्वीकार नहीं करता हैं। परन्तु प्रत्येक द्रव्य में, गुणों में परिवर्तन मानता है।

(21) जैन धर्म में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा, मार्दव, सरलता, निर्लोभता, संयम, तप, त्याग, सत्-विश्वास, सच्चा-विज्ञान, सदाचार, जीव रक्षा के साथ-साथ प्रत्येक वस्तु के स्वशुद्ध-स्वरूप को सार्व भौम धर्म माना है।

2 साक्षरी श्रेष्ठ या संस्कारवान - सक्षम

शब्द-ब्रह्म से परब्रह्म का ज्ञान होता है क्योंकि शब्द वाचक होता है और सत्य/ज्ञेय/विषय वाच्य होता है। इसे वाच्य वाचक सम्बन्ध कहते हैं। जैसा कि मानचित्र के माध्यम से उस मानचित्र में दर्शाया गया क्षेत्र/देशादि का ज्ञान होना। दिशासूचक यंत्र से दिशा का ज्ञान करके मानचित्र में निर्दिष्ट सूचना के अनुसार गमन करने पर लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है, उसीप्रकार शब्द सूचना से लक्ष्य का परिज्ञान करके मानसिक तैयारी से पुरुषार्थरूपी गति से लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। दिशासूचक यंत्र, मानचित्र जिस प्रकार विज्ञपुरुष के द्वारा व्यवस्थित बनाया जाता है उसी प्रकार विज्ञपुरुष द्वारा अनुभूत सत्य, तथ्य को अक्षर/शब्द/वाक्य के माध्यम से ग्रन्थ/शास्त्र/पुस्तक में लिपिबद्ध किया जाता है। सत्पुरुषों के द्वारा उपार्जित ज्ञान/ अनुभव का संचित- कोष जिससे अन्य सत्पुरुष लाभान्वित होते हैं, वह है सत्साहित्य, शिक्षा, प्रशिक्षण आदि। ज्ञानदान, श्रुतोपासना, अध्ययन- अध्यापन, प्रवचन-श्रवण, सत्संगति, स्वाध्याय, पठन-पाठन, अनुचिन्तन, अनुप्रेक्षा, ध्यान, अनुसंधान, प्रशिक्षण-निरीक्षण, परिभ्रमण, चर्चा, जिज्ञासा, शंका- समाधान आदि- इसके विभिन्न उपाय/आयाम/क्रम/पद्धति हैं। गुरु-शिष्य सम्बन्ध, गुरुकुल, गुरु से शिक्षा-दीक्षा-मंत्र ग्रहण, प्राथमिक विद्यालय से लेकर विश्वविद्यालय, अनुसंधान केन्द्र, धर्म प्रवर्तन, धर्म का प्रचार-प्रसार, साहित्य, पत्र-पत्रिका, टी. वी., ई. मेल-इन्टरनेट से लेकर समवशरण में तीर्थंकर के द्वारा दिव्य-ध्वनि के माध्यम से असंख्यात देव, मनुष्य, पशु, श्रावक-श्राविका, मुनि-आर्यिका, गणधरों को सम्बोधित करना आदि सब ज्ञान/अनुभव/संस्कारादि का प्रचार-प्रसार विभिन्न विधाएँ हैं। इन सब प्रक्रियाओं के कारण ही तो मानव विश्व की सर्वश्रेष्ठ विभूति है। इससे मानव दानवत्व तथा पशुत्व से निवृत्त होकर महामानव एवं भगवान् बन जाता है। इसीलिए ही तो "णाणं पयासणं" "नहि ज्ञानेन सदृश्यं पवित्रमिह विद्यते" "ज्ञानामृतं" "Knowledge is Supreme light" "Knowledge is Supreme power" कहा है। इससे विपरीत "विद्याविहीनं पशु" "सर्वस्य लोचनं शास्त्रं, यस्य नास्ति अन्ध एव सः" "अणाणि किं जाणइ पुण्णं पापगं सेयं असेयं" "पढमं णाणं तदो दया" कहा है। अतः मोक्षमार्ग में सम्यग्ज्ञान को सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र के मध्य में रखा गया है क्योंकि सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र को

प्रकाशित करता है, शुद्ध करता है, सम्बल देता है।

साक्षरता, शिक्षा, साहित्य, अध्ययन-अध्यापन से वस्तुस्वरूप, सत्य स्वरूप, विश्व स्वरूप, स्व-स्वरूप, भूत का ज्ञान, वर्तमान का कर्तव्य एवं भविष्य का लक्ष्य/प्राप्य का ज्ञान होता है। इसलिए ही जिस व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र में शिक्षा का प्रचार-प्रसार है वे ज्योतिर्मय, उन्नतमय बनते हैं, इससे विपरीत अशिक्षादि से अन्धकारमय, पतनमय बन जाते हैं, परन्तु केवल साक्षरता (अक्षर ज्ञान, वर्णमाला ज्ञान, लिखने-पढने से) महान् कार्य सम्भव नहीं है। वस्तुतः साक्षरता का अर्थ है (स+अक्षर, अ+क्षर) (शाश्वतिक सत्य) सत्य से युक्त, अमृतस्वरूप होना, मोक्ष प्राप्त करना। इसीलिए तो "सा विद्या या विमुक्तये" "ज्ञानेन अमृतमश्नुते" कहा है। इस विद्या से युक्त अन्य ज्ञान भी समीचीन होता है, अन्यथा ज्ञान मिथ्या/कुज्ञान/ कुशिक्षा/अज्ञान हो जाता है। प्रत्येक शिक्षादि के अन्तर्निहित उद्देश्य निम्न प्रकार से होना चाहिए।

कला बहत्तर नरन की यामें दो सरदार।
एक जीव की जीविका दूजी जीव उद्धार।।

जीविका निर्वाहरूपी अपरा विद्या (लौकिक शिक्षा) तथा जीव उद्धार रूपी पराविद्या (आध्यात्म शिक्षा) से युक्त प्रत्येक मनुष्य को होना चाहिए। इससे आधुनिक शिक्षा मनोविज्ञान के अनुसार सर्वोदय शिक्षा, सर्वांगीण विकास कहते हैं तो धर्म के अनुसार "यतो अभ्युदय निश्रेयसः सिद्धिः स धर्मः" अर्थात् सांसारिक सुख आध्यात्मिक / मोक्ष सुख जिससे प्राप्त होता है वह धर्म है परन्तु जिस शिक्षा/विद्या से उपर्युक्त बहिरंग-अन्तरंग विकास नहीं होता है वहाँ सन्तुलन बिगडता जाता है और विकास के परिवर्तन में विनाश ही होता है। विश्व इतिहास, पुराण तथा वर्तमान के अनेक उदाहरण इसी के साक्षी हैं। रामायण युद्ध, महाभारत युद्ध से लेकर प्रथम विश्वयुद्ध, द्वितीय विश्वयुद्ध, भारत के ऊपर विदेशी बर्बर आक्रान्ताओं का आक्रमण, धर्म के नाम पर क्रूरता, भ्रष्टाचार, मिलावट, फैशन-व्यसन, शोषण आदि इसके उपज हैं। इससे विपरीत सन्तुलित विकास से केवल विकास ही विकास होता है, विनाश नहीं होता है, भले उससे अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टाचार, पापाचार, विपन्नता, दरिद्रतादि का विनाश क्यों न हो।

तीर्थंकर भगवान् बाल्यकाल में भी गुरुकुल/विद्यालय या दूसरों से भी साक्षरता प्राप्त किये बिना ही गर्भावस्था से ही तीन ज्ञान के धारी होते

हैं, मुनि बनते ही चार ज्ञान एवं 64 ऋद्धियों के धारी बन जाते हैं तथा अरिहंत अवस्था में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख एवं अनन्तवीर्य के स्वामी बनते हैं। महात्मा बुद्ध भी बाल्यावस्था में विद्यालय में जाकर स्वयं सहपाठी से लेकर शिक्षक को भी पढा दिये। भक्त प्रह्लाद ने भी ऐसा ही किया। सुकरात, कबीर, गुरुनानक, ईसामसीह से लेकर अनेकानेक साधु-सन्त, धर्मप्रवर्तक, दार्शनिक, कवि, चिन्तक, समाज सुधारक, भक्त, राजा, व्यापारी, उद्योगपतियों ने भी औपचारिक साक्षरता प्राप्त नहीं की। इतना हीं नहीं, अनेकानेक वैज्ञानिक सिद्धान्त/उपकरण/यंत्र के आविष्कारक/शोधकर्ताओं ने भी कोई विशेष साक्षर ज्ञान प्राप्त नहीं किया यथा एडीसन आदि। इससे सिद्ध होता है कि केवल औपचारिक साक्षरता से ही कोई किसी भी क्षेत्र में महान् नहीं बन जाता और तथाकथित साक्षरता से रहित कोई छोटा/खोटा/पापी नहीं बन जाता है। इसलिए जो "निरक्षरता पाप है" "अंगूठा लगाना पाप है" मानते हैं, कहते हैं, लिखते हैं वे सम्पूर्ण सत्य तथ्य से अनभिज्ञ, साक्षर मूर्ख हैं, महान् व्यक्तियों का अनादर/अपमान करने वाले हैं तथा स्वयं साक्षरा-राक्षस होकर दूसरे साक्षरा-राक्षसों का समर्थन करके उनको प्रोत्साहित करने वाले हैं । रावण, कंस से लेकर आधुनिक बडे से बडे भ्रष्टाचारी, आतंकवादी, ठग, मिलावट करने वाले, मॉडल, हीरो-हिरोइन, फैशनी-व्यसनी, स्मगलर्स आदि अधिकांशतः साक्षर हैं। भोले-भाले, सहज-सरल स्वभावी निरक्षरों ने कभी भी बडे-बडे युद्ध, कलह, आतंकवाद, भ्रष्टाचार, बलात्कार, शोषण, मिलावट आदि नहीं किये हैं। वे तो हर समय में अन्नदाता (कृषक), समाज सेवक (श्रमिक, कुंभार, लोहार, बढई आदि) पशु सेवक, गो-रस दाता (ग्वाला, गडरिया आदि) पर्यावरण रक्षक/स्वच्छता दाता (वनरक्षक, माली, वृक्षरोपक, मेहतरानी, वाल्मीकी, हरिजन, धोबी) आदि महान् कार्य करते रहे हैं, इनके बिना न तो राजा से लेकर महाराज (साधु- सन्त), विद्यार्थी से लेकर प्राचार्य, वैज्ञानिक, व्यापारी से लेकर उद्योगपति, बाबू (क्लर्क) से लेकर न्यायाधीश, राष्ट्रपति, पुलिस से लेकर सेनापति तक जीवित रह सकते हैं परन्तु (सच्चे साधु का ग्रहण नहीं)। राजा से लेकर सेनापति के बिना वे अन्नदातादि और भी सुख से जीवन-यापन कर सकते हैं क्योंकि राजादि तो परोपजीवी/जोंक/मच्छर/खटमल के जैसे हैं जो अन्नदातादि के शोषण से जीवित रहते हैं। बहुत समय श्रम, बुद्धि, धन व्यय करके जिस साक्षरता को

प्राप्त करके व्यक्ति स्वावलम्बी के परिवर्तन में परावलम्बी, परोपकारी के बदले परोपजीवी/परशोषक, सदाचारी के बदले में भ्रष्टाचारी/पापाचारी, सरल सहज सादा जीवन उच्च विचार के बदले में धूर्त, चालाक, फैशनी-व्यसनी आदि बनता हैं, उससे अच्छा निरक्षरी होकर स्वावलम्बी, परोपकारी, सदाचारी, सरल सहज उच्च विचारवान बनना है। क्या मूल्य से प्राप्त शराब, विष, नशीली वस्तुओं से सहज प्राप्त शुद्ध पानी, सूर्य-रश्मि, प्राणवायु गुणकारी नहीं हैं? क्या बिना धन, जन साधन हानि से प्राप्त सुख शान्ति उस युद्ध, कलह, आतंकवाद, आदि से श्रेष्ठ नही हैं ? जिसमें धन जनादि की हानि होती है।

मैंने जो बाल्यकाल में विद्यार्थी से लेकर आचार्य जीवन तक देश विदेश के विभिन्न विधाओं के साहित्यों के विश्लेषणात्मक अध्ययन, विभिन्न देश- विदेश के विभिन्न जाति, धर्म, कार्यक्षेत्र के लाखों व्यक्तियों का शोध-बोध अनुभव किया है उसके आधार पर यह सब लिखा है। निष्कर्ष रूप से मेरा अनुभव है कि केवल साक्षरता (लौकिक या धार्मिक) से कोई संस्कारवान/सामर्थवान/सक्षम नहीं बन जाता हैं। कुछ साक्षरी अच्छे होते हैं तो कुछ बुरे, उसी प्रकार कुछ निरक्षरी अच्छे होते हैं तो कुछ बुरे। कुछ निरक्षरी अपनी सरलता सहजता के कारण अपनी महत्ता/गुणवत्ता का ज्ञान-भान, मूल्यांकन स्वयं नहीं कर पाते हैं, उसका बखान नहीं कर पाते हैं। जिससे कुछ साक्षरी/राक्षस उनका दुरुपयोग करते हैं और स्वयं की कमियों को, त्रुटियों को अपनी गुणवत्ता/महानता मानकर अहंकारी, उत्शृंखल, आलसी, शोषणकारी भ्रष्टाचारी बन जाते हैं। अतएव केवल साक्षरता को ही महत्व देकर निरक्षरता को पाप मानना अयथार्थ है, अयोग्य है। कहा भी हैं।

"पोथी पढ - पढ जग मुआ पण्डित भया न कोय।
ढाइ आखर प्रेम (आत्मा/सत्य) का पढे सो पण्डित होय"।।
पंडिय पंडिय पंडिय कण छोडिय तुसहु खंडिय।
सद्दो अत्थोसि मुढसि परमत्थु ण जाणइ मुढसी।। 1
जे यावि होइ निविग्गे भद्धे लद्धे अणिग्गहे।
अभिक्खणं उल्लवइ अविणीए अबहुस्सुए।। 2

जो विद्या रहित है, विद्यावान होते हुए भी अहंकारी है, जो (धन, नाम, रसादि में) लुब्ध (गृद्ध) है, जो अजितेन्द्रिय है, बार-बार असम्बद्ध

बोलता (बकता) है तथा जो अविनीत है, वह अबहुश्रुत है, साक्षर मूर्ख है।

अह पंचहि ठाणेहिं जेहिं सिक्खा न लब्भइ।
थम्भा कोहा पमाएणं रोगेणाऽऽलस्सएण य।। 3

1. अभिमान 2. क्रोध 3. प्रमाद 4.रोग और 5. आलस्य (इन्हीं पाँच कारणों से बहुश्रुतता नहीं होती है)

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्र तस्य करोति किम् ।
लोचनानां विहीनस्य दर्पणं किं करिष्यति।। (चाणक्य)

अर्थात् जिस की स्वयं की प्रज्ञा/अनुभूति/योग्यता नहीं है उसके लिए शास्त्र क्या कर सकता है ? जैसा कि दर्पण के द्वारा भी अन्धा स्वयं को नहीं देख सकता है।

कबीर ने यथार्थ से अनुभव से कहा है -

तुमने कहा कागद लिखी मैंने कहा आँखन देखी।

परीक्षण - निरीक्षण, अध्ययन, शोध-बोध, अनुभव से जैसे ज्ञात होता है और प्रायोगिक रूप से जो उपर्युक्त सुगुण-दुर्गुण उपलब्ध होते हैं उसके लिए निम्नोक्त कारण यथायोग्य संभव हैं -

(1) जो केवल साक्षात्कार/पुस्तकें रटन्त (लौकिक या धार्मिक) को भी ज्ञान मान लेते हैं वे यथार्थ ज्ञान से अपरिचित रह जाते हैं, जिससे वे ज्ञान का जो फल सदाचारादि हैं, उसको प्राप्त नहीं कर पात हैं।

(2) जो समय, शक्ति, बुद्धि, धनादि का खर्च साक्षरता में करने के कारण वे अन्य सद्गुणादि की उपलब्धि से वंचित रह जाते हैं। वे कागजी नक्शे को छोडकर वास्तविक धरातल पर नहीं उतरते हैं जिससे प्रायोगिक जीवन में वे अयोग्य सिद्ध होते हैं।

(3) साक्षरता के अहंभाव से पूर्ण व्यक्ति में अच्छे गुण प्रवेश नहीं कर पाते हैं और योग्यता के अभाव से हीन-ग्रंथि से युक्त हो जाता है जिससे वह अक्षम हो जाता है किंतु उपर्युक्त दुर्गुणों से रहित व्यक्ति संस्कारवान सक्षम होता है।

जस्स गुरुमि न भत्तो, न य बहुमाणो न गाउरवं न भयम्।
न वि लज्जा नहि नेहो गुरुकुलवासेन किं तस्स ।। (75)

जिस शिष्य में गुरु महाराज के प्रति न तो विनय-भक्ति हो, न बहुमान हो यानि हृदय में प्रेम न हो, न गुरु के प्रति गुरुबुद्धि हो, और न ही भय, लज्जा या किसी प्रकार का स्नेह, ऐसे शिष्य के गुरुकुलवास में रहने

या रखने से क्या लाभ है ? अर्थात् ऐसे दुर्विनीत शिष्य का गुरु के पास रहना या रखना व्यर्थ है।

रूसइ चोइज्जंति, वहइ हियएण अणुसयं भणिओ।
न य कसिं करणिज्जे गुरुस्स आलो न सो सीसो।। (76)

'जो शिष्य गुरु के द्वारा प्रेरणा करने पर रोष करता है, सामान्य हित की शिक्षा देने पर भी गुरु के सामने बोलकर उन्हें डांटने लगता है, तथा जो गुरु के किसी काम नहीं आता, वह शिष्य नहीं है। वह तो केवल कलंकरूप है। जो सत् शिक्षा ग्रहण करे वही शिष्य कहलाता है।

उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये।
पयः पानहिं भुजंगानां केवलं विषवर्धनम्।।

मूर्खों को दिया गया उपदेश उनके क्रोध को बढाने के लिए ही होता है, न कि शांति के लिए। जिस प्रकार सर्पों को दूध पिलाने से उनके विष का ही वर्धन होता है।

उपदेशो न दातव्यो यादृशे तादृशे जने ।
पश्य वानरमूर्खेण सुगृही निगृही कृतः।। (421)

जैसे-तैसे व्यक्ति को उपदेश न देना चाहिए। देखो, मूर्ख बन्दर ने एक उत्तम गृहस्थ को घर से शून्य बना दिया।

अपि शास्त्रेषु कुशला लोकाचार विवर्जिताः ।
सर्वे ते हास्यतां यान्ति, यथा ते मूर्ख पण्डिताः।। (38)

शास्त्रों में कुशल रहने पर भी लोकव्यवहार से अनभिज्ञ व्यक्ति उसी प्रकार उपहास के पात्र होते हैं जैसे लोकव्यवहार से हीन पण्डित मूर्ख बने थे।

यस्य नास्ति विवेकस्तु केवलं यो बहुश्रुतः।
न स जानाति शास्त्रार्थान् दर्वी पाक रसानिव।।

जो हिताहित विवेक से रहित होकर बहुश्रुतज्ञ है वह शास्त्रों के रहस्य को नहीं जान सकता है। जैसे चम्मच विभिन्न रसयुक्त व्यंजनों से लिप्त होने पर भी रस को जान नहीं सकती।

3 क्षमावाणी पर्व दूसरों के लिए नहीं परन्तु क्षमावानं पर्व स्वयं से प्रारम्भ होता है।

क्षमा वाणी में नहीं है। भाव में/व्यवहार में पहले क्षमा चाहिए बाद में वाणी में। दूसरों को क्षमा प्रदान करने से पहले स्वयं को क्षमा प्रदान करना अनिवार्य है अन्यथा वह उत्तम क्षमा नहीं है। केवल क्रोध के अभाव से उत्तम क्षमा सम्भव नहीं है परन्तु क्रोध के साथ-साथ मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व आदि भावात्मक दूषित परिणाम, उद्वेग, तनाव से रहित परिणाम उत्तम-क्षमा हैं। केवल कोई पर्व विशेष में क्षमा धर्म नहीं होता परन्तु क्षमा सतत स्वीकार्य धर्म है। क्षमा धर्म केवल जैनों का नहीं, यह तो प्रत्येक जीव का है।

वस्तु-स्वभावात्मक धर्म होने के कारण वस्तु के शुद्ध स्व-स्वरूप से भिन्न जितने भी भाव हैं या व्यवहार हैं वे सब अधर्म हैं। जीव का शुद्ध स्वरूप उत्तम क्षमा, समता, शान्ति, क्षान्ति के साथ-साथ अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुणात्मक है। उपर्युक्त गुण/स्वभाव/धर्म से भिन्न मोह, क्रोध, क्षोभ, तनाव, अशान्त, संक्लेश, विषमता, ईर्ष्या, द्वेष, दीनता, हीनता, अहंभाव, लोभ, तृष्णा, कुटिलता, वक्रता, आसक्ति, कामभाव आदि दुर्गुण/विकृत भाव/अधर्म हैं। अतएव जिस प्रकार क्रोध के कारण जीव के स्वभाव में विकृति आ जाती है एवं कर्म का आस्रव, बन्ध होता है और जीव विभिन्न प्रकार के इहलोक-परलोक में दुःख/संक्लेश भोगना पडता है, उसी प्रकार मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व आदि दूषित परिणाम से भी जीव के स्व-स्वभाव में विकृति आती है, आत्म प्रदेश में क्षोभ/कम्पन उत्पन्न होता है, कर्म का आस्रव एवं बन्ध होता है और उससे इहलोक में, परलोक में विभिन्न प्रकार के कष्ट मिलते हैं। इसलिए जो क्रोध के साथ-साथ मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व आदि दूषित परिणाम से एवं व्यवहार से ग्रसित रहता है वह कभी भी उत्तम क्षमावान् नहीं बन सकता है। क्योंकि -

जो आयरियउवज्झायसिस्ससाधम्मिगे कुलगणे य।
जो होज्ज कसाओ से तं सव्वं तिविहेण खामेदि।। (भ. आ.

'जो होज्ज कसाओ' यो भवेत्कषाय कोधो, मानो, लोभो वा।

क्रोध **'तिविहेण'** त्रिवेधेन **'खामेदि'** क्षपयति निराकरोति।।

जो क्रोध, मान, माया या लोभ कषाय होती हैं उन सबको वह मन, वचन, काय से निकाल देता है। अन्तर्जल्प सहित बहिर्जल्प होता है। वचन भाव का प्रतिबिम्ब है तथापि यह अनिवार्य नहीं कि जो सामान्य व्यक्ति वचन में बोलते हैं वे भाव में उसी प्रकार भाते हैं और व्यवहार में उसको अपनाते हैं। इसलिए भावरहित वचन प्रमाणिक नहीं होता है। क्षमा आत्मा का भाव है, स्वभाव है, धर्म है और यह भाव चेतनात्मक व अमूर्तिक है। वचन पौद्गलिक है, अचेतन है क्योंकि पौद्गलिक (भौतिक) स्कन्ध के कम्पन से शब्द की उत्पत्ति होती है। इसीलिए एकान्ततः वचन ना सत्य होता है, न क्षमा स्वरूप होता है, न प्रामाणिक होता है। इसीलिए क्षमावाणी पर्व या क्षमावाणी धर्म नहीं होता है, केवल यह क्षमा की अभिव्यक्ति का साधन है। इसलिए भाव शुद्धसहित वाचनिक क्षमा या व्यवहारिक क्षमा के साधन उचित होते हुए भी भाव अशुद्धि से युक्त वे सब अनुचित हैं/अपर्याप्त हैं।

पर्युषण पर्व का अर्थ है - अन्तरंग, बहिरंग रूप से समग्रता से धर्म की अर्थात् आत्मा के स्वभाव की आराधना करना/उपासना करना। सामान्य गृहस्थ सतत सर्वांग रूप से धर्म की उपासना नहीं कर पाता है इसलिए वह इस पर्व के माध्यम से धर्म के साथ स्वयं को जोडता है या धर्म का प्रशिक्षण लेता है और जीवन के हर क्षेत्र में उसका प्रयोग करता है। परन्तु साधु, अतिथि (जिसके लिए किसी भी प्रकार की तिथि, पर्व आदि का विशेष कोई महत्व नहीं होता है) के लिए पर्युषण पर्व आदि का कोई विशेष महत्व नहीं होता है क्योंकि वे सतत इसकी आराधना करते हैं या इसी स्वरूप होते हैं। उत्तम क्षमादि दशधर्म आत्मा के स्वभाव होने के कारण और क्रोधादि आत्मस्वरूप से विपरीत/विकृत/विभाव होने से एक भी क्रोधादि वैभाविक परिणाम से आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में कम्पन होगा और अनन्तानन्त कर्म परमाणु आकर्षित होकर प्रत्येक आत्म प्रदेश में बन्ध जाएंगे और इसी प्रक्रिया से जीव को विभिन्न प्रकार के दुःख प्राप्त होंगे। इसलिए जो क्रोध, मान, माया, लोभ आदि से आवेशित होता है वह सर्वप्रथम स्व को क्षति पहुंचाता है, स्व की हत्या करता है। इसलिए केवल क्रोध के अभाव से उत्तम क्षमा नहीं होती है

परन्तु सम्यग्दर्शन से युक्त सम्यग्ज्ञान से सहित; क्रोध, मानादि वैभाविक भाव से रहित, स्वशुद्ध स्वरूप ही उत्तम क्षमा भाव है। जहाँ यथार्थ से क्षमाभाव होगा वहाँ उत्तम मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आंकिचन्य, ब्रह्मचर्य आदि भाव भी अवश्य होंगे। जहाँ उत्तम मार्दवादि भाव नहीं होंगे वहाँ उत्तम क्षमा भाव भी यथार्थ से नहीं होगा। जिस प्रकार ऊर्जा का ऊर्जान्तरण होता है उसी प्रकार कषाय का भी कषायान्तरण होता है। जैसा कि कोई लोभी है, तो वह लोभ के कारण संचित परिग्रह का अभिमान करेगा, उसी परिग्रह को क्षति पहुँचाने वालों के ऊपर क्रोध करेगा, परिग्रह की सुरक्षा के लिए तथा संग्रह के लिए मायाचारी करेगा, इसीप्रकार अन्य कषायों के लिए भी जान लेना चाहिए।

जो दीपक स्वयं प्रकाशित नहीं होता है वह दूसरों को भी प्रकाशित नहीं कर सकता या ''प्रज्वलित दीपक'' रूपी शब्द से भी प्रकाश प्राप्त नहीं हो सकता। उसी प्रकार जो क्षमावान् नहीं है वह दूसरों को क्षमा नहीं कर सकता है या क्षमा शब्द प्रयोग से भी वह स्व-पर को क्षमा नहीं कर सकता है। अतएव पहले स्व-दूषित परिणाम को त्याग कर स्वयं को क्षमावान् बनना चाहिए, उसके बाद जिसके प्रति दूषित भाव या व्यवहार है उसके लिए मनसा, वचसा, कर्मणा क्षमा प्रदान करना चाहिए। जिससे मित्रता है, उसी से तो येनकेन प्रकारेण क्षमा का व्यवहार कर लेते हैं, परन्तु जिसके प्रति दूषित परिणाम हैं उसके प्रति क्षमा का व्यवहार नहीं करते हैं, यह उत्तम क्षमा नहीं है। उत्तम क्षमादि धर्म से युक्त गुरु आदि के हितकर परन्तु कटुक कथन भी क्षमा धर्म के अन्तर्गत आता है परन्तु दूषित परिणाम से युक्त व्यक्ति का प्रिय वचन तथा व्यवहार भी क्षमा धर्म के अन्तर्गत नहीं आता है।

मणवयणकायजोगेहिं पुरा कदकारिदे अणुभदे वा।
सव्वे अवराधपदे एसो खमावेमि णिस्सल्लो।। ***711 म.आ.***

कि मैं मनवचनकाय और कृतकारित अनुमोदना से पूर्व में किये गये सब अपराधों की मैं निःशल्य होकर क्षमा मांगता हूँ।

4 भारतीय संस्कृति की जीवन्त कृति ग्रामीण संस्कृति

मधुर मधुर रूप - ग्राम ग्राम ग्राम।
मधुर मधुर भाव - ग्राम ग्राम ग्राम।
मधुर मधुर काम - ग्राम ग्राम ग्राम।
मधुर मधुर दाम - ग्राम ग्राम ग्राम।

किसी भी वस्तु का दाम उसके रूप (रंग - आकार - प्रकार) भाव (आवश्यकता, गुणवत्ता) काम (उपयोगिता, क्षमता, कार्य दक्षता) के ऊपर निर्भर है। इसके आधार पर मैं ग्राम (मुंगाणा, बोरिया) का दाम/मूल्यांकन/वर्णन इस शोधपूर्ण निबन्ध में कर रहा हूँ।

मुंगाणा में चातुर्मास (2003) के सात महीना प्रवास तथा उसके अनन्तर बोरिया प्रवास के अवसर पर तथा 2004 के गनोडा चातुर्मास में मैंने जो अनुसन्धानात्मक अनुभव किया उसके कतिपय वर्णन के माध्यम से भारत की मधुर, सुरम्य, सरल, सहज, सुगन्धित, नयनाभिराम, मनोहारी, आह्लादकारी, सुखशान्ति प्रदात्री संस्कृति का दिग्दर्शन करा रहा हूँ।

(1) मधुर मधुर रूप - ग्राम ग्राम ग्राम

भोला-भाला, सरल-सहज, नटखटिया नग्न शिशु के रूप से (भले मनुष्य, पशु या पक्षी का क्यों न हो) जैसे शान्त मिश्रित सुन्दरता झरती है उसी प्रकार प्रकृति की गोद में बसे हुए ग्राम से शान्त मिश्रित सुन्दरता झलकती है। ग्राम में यत्र-तत्र-सर्वत्र खेती-बाडी, बाग-बगीचा, वृक्ष-लता, पशु-पक्षी, नदी, तालाब, पहाड-पर्वत होने से तथा जनसंख्या, गाडी-कल-कारखाना आदि कम होने से ग्राम में शब्द, वायु, मृदा, जल आदि प्रदूषण कम होता है। इसके साथ-साथ अनाज, फल, सब्जी, दूध, घी आदि भी खाने के लिए प्रायः शुद्ध, प्राकृतिक, ताजा मिलते हैं। इन सब कारणों से तथा जनसंख्या कम होने से परस्पर में जान-पहिचान, लेन-देन, उठना-बैठना, सुख-दुःख में सहभागिता, प्रेम-संगठन होने से भी ग्राम के लोग सरल-सहज, मृदु, प्रेमालु, परोपकारी, सहयोगकारी, दयालु, संवेदनशील, धार्मिक, गुरुभक्त, आहारदानी, अतिथि-सत्कारी, गुरु की सेवा करने वाले

होते हैं। ग्राम के लोग जब पशु-पक्षी, वृक्ष, वनस्पति, खेती-बाडी को भी आत्मीयता से प्रेम करते हैं, उन्हें खिलाते-पिलाते हैं उनकी सेवा सुरक्षा करते हैं उनके सुख-दुःख में सहभागी होते हैं तब वे मनुष्य, अतिथि, गुरुजन-गुणीजन से क्योंकर अच्छे भाव, अच्छा व्यवहार नहीं करेंगे ? अर्थात् अवश्य करेंगे और कर रहे हैं। उपर्युक्त गुण, भाव एवं व्यवहार हमने मुंगाना एवं बोरिया ग्रामवासियों में अनुभव किया।

इसके विपरीत नगर में हर प्रकार के भौतिक प्रदूषण होने से, जनसंख्या अधिक होने से अप्राकृतिक वातावरण में जीने से वहाँ का जीवन कृत्रिम, दिखावटी, आपा-धापी पूर्ण व्यस्त जीवनचर्या आदि के कारण नगरवासी, ग्रामीणों के जैसे सहज, मृदु, परोपकारी, संवेदनशीलता आदि गुणों की अपेक्षा पिछडे हैं।

(2) मधुर-मधुर भाव - ग्राम-ग्राम-ग्राम

उपर्युक्त नैसर्गिक सुन्दर रूप के कारण ग्रामीणों के भाव (गुणवत्ता, श्रेष्ठता, ज्येष्ठता, उदारता) भी मधुर होते हैं। उनकी सीमित एवं प्राकृतिक आवश्यकता के कारण तथा ऊपर वर्णित प्राकृतिक उपलब्धियों के कारण उनकी आपूर्ति सरलता से हो जाती है, जिसके कारण उन्हें अधिक संक्लेष, आपा-धापी, लंद-फंद, घोटाला मिलावट, मायाचारी, चिंता, तनाव अधिक नहीं होते हैं। इससे भी ग्रामीण संस्कृति सरल-सहज मधुर होती है। इन कारणों से मुक्त रहने से वे परस्पर मिल-जुलकर सुख-दुःख में सहयोगी बनते हैं, धार्मिक एवं सामाजिक कार्य में सहयोग करते हैं। इन कारणों से ग्रामीणजनों का भाव भौतिकता, कृत्रिमता, कुटिलता से कम प्रभावित होता है परन्तु नैतिकता, प्राकृतिकता, सहज-सरलता से अधिक प्रभावित होता है। मैंने मुंगाणा, बोरिया में भी उपर्युक्त भावों का अनुभव किया। मुंगाणा में 118 परिवार, बोरिया में 12 परिवार एवं गनोडा में 50 परिवार जैनों के होने पर भी यहाँ के लोग साधुओं की सेवा, व्यवस्था, आहारदान, रोगी साधु की औषधि सेवा, व्यवस्था, साधुओं के दर्शन के लिए आनेवाले हजारों लोगों, ग्राम में आनेवाले मेहमानों की सेवा व्यवस्था, भोजन की व्यवस्था अति आदर-सत्कार, उत्साह-भावना से करते हैं। उपर्युक्त ग्रामीण संस्कृति, व्यवस्था, परिस्थिति के विपरीत नगर में अधिक अनावश्यक भौतिक आवश्यकता, आड़म्बर, दिखावा ढोंग के कारण उसकी आपूर्ति के लिए अधिक भौतिक साधन-संपत्ति की आवश्यकता पडती है। इसलिए उन्हें अधि

क धन के लिए अधिक श्रम, शोषण, तिकड़मबाजी आदि करना पड़ता है, इसलिए उनका जीवन व्यस्त होता है परंतु व्यवस्थित न होकर अस्तव्यस्त होता है जिससे वे समय, साधन, भावना, धन को बचाकर सामजिक, राष्ट्रीय, धार्मिक कार्य में सदुपयोग नहीं कर पाते हैं। इसलिए भी नगर में जहाँ सैकड़ों जैन-परिवार रहते हैं वहाँ जैन-समाज भी साधु-संघ की व्यवस्था आदि छोटे से ग्रामीण जैन समाज के समान नहीं कर पाते हैं।

(3) मधुर मधुर काम - ग्राम ग्राम ग्राम

उपर्युक्त गुणों के कारण ग्राम में बड़े-बड़े मंदिर, मठ, धर्मशाला, पाठशाला, गौशाला, बाग-बगीचा, तालाब, बावड़ी, कुआँ आदि पाये जाते हैं। इतना ही नहीं, आधुनिक काल के देश-विदेश के हर विधा के शिखर पुरुष प्रायः ग्राम में हुए हैं, हो रहे हैं। सरल-सहज- प्राकृतिक वातावरण, रहन-सहन, खान-पान से भावना अच्छी होती है जिससे बुद्धि भी प्रखर, शुद्ध, उदार, पारदर्शी होती है। ग्राम के प्राकृतिक वातावरण रूपी पाठशाला से वहाँ के बच्चे भी बहुत कुछ अध्ययन करते हैं जिससे भी ग्रामीण विद्यार्थी ज्यादा बुद्धिमान, क्षमतावान्, क्रियाशील होते हैं। मुंगाणा, बोरिया, गनोडा में मैंने अनुभव किया कि यहाँ के छोटे बच्चों से लेकर बड़ों तक अतिशीघ्र आहार बनाना, आहार देना, सेवा, पूजा, आरती आदि शीघ्र सीख गये और उस कार्य को करने लगे।

(4) मधुर मधुर दाम - ग्राम ग्राम ग्राम

ग्रामीणों को जिस प्रकार प्रकृति भेद-भाव रहित नैसर्गिक सुंदरता, स्वच्छता, ताजगी, फल-फूल, अनाज आदि देती है, उसी प्रकार ग्रामीण जन भी साधु-संत, अतिथि, पशु-पक्षी आदि को नैसर्गिक सेवा, व्यवस्था, भोजन, प्रेम-वात्सल्य, मधुर व्यवहार, मीठा वचन देते हैं। इससे वे व्यापारी बुद्धि/वृत्ति (आर्थिक लाभ) का प्रयोग नहीं करते हैं। ग्राम के लोग स्व-खेती की चीजें, घर में बनी हुई मिठाईयाँ, सब्जियाँ आदि परस्पर एक-दूसरे को बाँटकर खाते हैं। कुछ ग्राम में मट्ठा आदि भी बिना पैसा लिए दूसरों को देते हैं। इन कारणों से ग्रामीण संस्कृति, सभ्यता, परंपरा, रीति-रिवाज, खान-पान, वेश-भूषा, भाषा, सहजता-सरलता, नम्रता, सद्व्यवहार, अतिथि-सत्कार आदि का मूल्यांकन दूसरे लोग प्रायः सही रूप से नहीं करते हैं, इसका

अवमूल्यन करते हैं। जैसा कि प्राण वायु बिना परिश्रम, बिना आर्थिक मूल्य से मिलने के कारण भले उसको आर्थिक दृष्टि से महत्व कम देते हैं, वैसा ही सहज-सरल, प्राकृतिक ग्रामीण संस्कृति को भौतिकता प्रधान व्यक्ति कम महत्व देते हैं तथापि जिस प्रकार प्राणवायु समस्त भौतिक वस्तु से अति महत्वपूर्ण है वैसे ही ग्रामीण संस्कृति, आड़म्बरपूर्ण, कृत्रिम, भौतिक, स्वार्थपूर्ण, भोगप्रधान, नगरीय वातावरण से अति महत्वपूर्ण है। प्राणवायु के बिना जिस प्रकार अन्य भोजन, पानी, वस्त्र, घर, धन-सम्पत्ति से भी जीवित रहना संभव नहीं है वैसा ही उपर्युक्त ग्रामीण संस्कृति के बिना भारतीय संस्कृति का जीवित रहना कष्टकर है। इन कारणों से मैं अभी कुछ वर्षों से भारतीय संस्कृति के जीवन्त स्वरूप मेवाड़-वागड़ के ग्रामों में विहार-निवास-चातुर्मास, प्रभावना कर रहा हूँ इससे मेरे भाव, ज्ञान, व्यवहार, स्वास्थ्य में सुधार, पवित्रता, प्रखरता, उदारता, संवेदनशीलता आदि में संवर्धन हो रहा है। मैंने मुंगाणा, बोरिया, गनोडा में भी उपर्युक्त गुणों का अनुभव किया। मेरी भावना है कि अन्य लोग भी ग्रामीण संस्कृति की अच्छाइयों को ग्रहण करके स्वयं को आदर्श बनाकर सुख, शान्तिमय बनावें।

मनुष्य की अपूर्णता

जिस प्रकार भारत में अन्यत्र भी समयानुबद्धता, क्रमबद्ध कार्य प्रणाली की कमी, आलस्य प्रवृत्ति पायी जाती है, उसी प्रकार यहाँ भी थोड़ी बहुत पायी जाती है तथापि वे इन कमियों को स्वीकार करते हैं और दूर करने की कोशिश करते हैं। इन सब कारणों से ग्रामीणजन श्रेष्ठ हैं, जेष्ठ हैं।

संघस्थ तीर्थनंदीजी के शब्दों में -

ऐसा गांव देख्या प्रकृति की गोद में बैठ निहारो है।
ऐसा रूप, रस, गंध, वर्ण देख मन में बिचारो है ।।
ऐसा मुंगाणा बोरिया का गांव वाला निर्मल भाव वारो है।
ऐसा गांवना संस्कृतिना धन्यवाद मारो है।।

5 बड़ों के गुरु - बच्चे

(बच्चों से प्राप्त शिक्षाएँ)

प्रकृति के सुव्यवस्थित क्रमबद्ध अध्ययन से आधुनिक विज्ञान विकास कर रहा है तो धार्मिक महापुरुष स्व-आत्मा के अनुसंधान से महान् आध्यात्मिक विज्ञान का शोध-बोध करते हैं। इसी प्रकार समाज के अध्ययन से समाजविज्ञान/समाजशास्त्र/राजनीति; कानून का, मन के अध्ययन से मनोविज्ञान; शरीर, रोग, वनस्पति, धातु आदि के अध्ययन से आयुर्वेद/चिकित्सा विज्ञान, शरीर-विज्ञान आदि का शोध बोध होता है। उदाहरणतः न्यूटन ने गिरते हुए सेव से गुरुत्वाकर्षण बल की खोज की तो तीर्थंकरों, महात्मा बुद्ध, कुछ साधु-संतों को कुछ घटना या दृश्यों को देखकर वैराग्य हुआ और स्वात्मा के शोध-बोध से विश्व के रहस्यों का उद्घाटन किया। इसी प्रकार सरल-सहज, भोला-भाला, जिज्ञासु, नटखट, प्रेमालु बच्चों से भी अनेक शिक्षाएँ प्राप्त होती है, जिसे बड़ों को ग्रहण करना चाहिए। बड़ों को बच्चों से क्या-क्या शिक्षाएँ प्राप्त होती हैं उसका संक्षिप्त वर्णन मैं इस प्रकरण में कर रहा हूँ। बाल्य विद्यार्थी अवस्था से लेकर आचार्य अवस्था तक जो मैंने तेरह प्रदेशों में लाखों बच्चों को पढाया, उनके सम्पर्क में आया, उन्हें प्रश्न किये, उनसे काम लिया, अभिप्राय लिया उसके आधार पर मैं यह सब लिख रहा हूँ।

(1) सरल-सहज प्राकृतिक जीवन

बच्चों का जीवन सरल-सहज-प्राकृतिक होने के कारण वे चिन्ता/तनाव, क्लेश- संक्लेश से रहित आनन्दमय, उत्साहपूर्ण, फूल सा खिला हुआ, रुई सा हलका, झरना सा गतिशील, पक्षी के समान चहचहाने वाले, ज्ञानी के समान जिज्ञासु, भक्त के समान प्रेमालु, उदारमना के समान भेद-भाव रहित, वैरागी के समान निस्पृह-निःसंग होता है। वैरागी संत अवधूत ने भी कहा था कि मैंने प्रसन्नता का पाठ बालक से पढ़ा हूँ यथा-

न मे मानावमानौ स्तो न चिंता गेहपुत्रीणाम्।
आत्मक्रीड़ा आत्मरतिर्विचरामीह बालवत्।। *3*

मुझे मान या अपमान का कोई ध्यान नहीं है और घर एवं परिवार वालों को जो चिन्ता होती है, वह मुझे नहीं है। मैं अपने आत्मा में ही रमता हूँ और अपने साथ ही क्रीड़ा करता हूँ। यह शिक्षा मैंने बालकों से ली है। अतः उन्हीं के समान मैं मौज से रहता हूँ।

द्वावेव चिंतया मुक्तौ परमानन्द आप्लुतौ।
यो विमुग्धो जड़ो बालो यो गुणेभ्यः परंगतः।। 4

इस जगत् में दो ही प्रकार के व्यक्ति निश्चित और परमानंद में मग्न रहते हैं - एक तो भोला-भाला निश्चेष्ट नन्हा-सा बालक और दूसरा वह पुरुष जो गुणातीत हो गया हो।

बच्चों की भावना की पवित्रता के कारण उनके मुख, शरीर, हाव-भाव, क्रिया-कलाप, बोल-चाल आदि स्निग्ध, मधुर, मनोहारी, आह्लादकारी लगते हैं। कहा है - मुख कथयतीव ते हृदय-शुद्धिमात्यन्तिकीम् अर्थात् मुख हृदय की अत्यन्त पवित्रता को मानो प्रगट करता है। इसीलिए बच्चे सबके लिए प्रिय होते हैं। मेरा अनुभव है कि उनको देखना, उनसे बोलना, उनकी संगति प्रसन्नता प्रदान करती है। इस प्रकार जो बड़े भी बच्चों के जैसे सरल-सहज पवित्र होते हैं, उनसे भी मुझे प्रसन्नता होती है। एक कवि के शब्दों में -

बच्चे मन के सच्चे सारे जग की आँखों के तारे।
ये वो नन्हे फूल हैं, जो भगवान् को लगते प्यारे।।

इसी प्रकार बच्चों के जैसे स्वच्छ, पवित्र प्राकृतिक वातावरण, लेख, साहित्य, विचार, कार्य, स्थान, भोजन आदि भी मुझे अच्छे लगते हैं।

बच्चों के भाव सरल-सहज, कोमल-पवित्र होने के कारण वे दुष्ट परिणाम से किसी को भी क्षति नहीं पहुँचाते। लड़ाई-झगड़ा, चोरी, डकैती, लूट-पाट, आतंकवाद, बलात्कार आदि नहीं करते। बाल्यावस्था की स्वभाविक चंचलता, मनोरंजन-वृत्ति, खेल-प्रवृत्ति के कारण वे कुछ शोर-शराबा, शरारत, तोड़-फोड़, धमा-चौकड़ी आदि अवश्य करते हैं। परन्तु यह सब दुष्ट भाव से किसी को क्षति पहुँचाने के लिए नहीं करते हैं वरन् इन सब क्रियाओं से उनके शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, रचनात्मक आदि में परिपक्वता आती है।

बच्चों की निर्विकार मनोवृत्ति के कारण वे रागलपेट, कामभाव, शृंगार-प्रवृत्ति, दिखावा, अश्लील कार्य-कलाप नहीं करते हैं। इसलिए दिगम्बर जैन साधुओं के नग्न रूप को बालकवत् कहा हैं। यथा -

अन्तर विषय वासना वरतैं बाहर लोक लाज भय भारी।
यातैं परम दिगम्बर मुद्रा धर नहीं सकै दीन संसारी।।
ऐसी दुर्द्धर नगन परिषह जीतै साधु शील व्रतधारी ।
निर्विकार बालकवत् निर्भय तिनके चरणों धोक हमारी।।

(2) सहज जिज्ञासु प्रवृत्ति

जिस प्रकार बच्चों का शरीर विकासशील होता है उसी प्रकार बच्चों की सीखने की प्रवृत्ति विकासशील होती है। इसके साथ-साथ बच्चों का मस्तिष्क मृदु, विकासशील, तरंगायित होने से उनमें जिज्ञासु प्रवृत्ति, स्मरण-शक्ति, उत्सुकता, क्रियाशीलता अधिक होती है; इसलिए वे हर चीज को देखते हैं, उठाते हैं, तोड़-फोड़ करते हैं, और उससे खेलते हैं। जिस समय जिस काम को करते हैं उसको खेल भावना से, तन्मयता से करते हैं। इससे उनको शिक्षा मिलती है, खेल भावना से तन्मयता से उन्हें थकान नहीं होती, मनोरंजन होने से उन्हें प्रसन्नता होती है। इस सहज पद्धति से ही मॉन्टेसरी शिक्षा पद्धति का अविष्कार मॉन्टेसरी ने किया था। इसके विपरीत बड़ों के खेल में करोड़ों रुपये खर्च होते हैं, तनाव से लेकर धोखाधड़ी, भ्रष्टाचार, हत्या तक होती हैं । क्या बड़ों को बच्चों से इस सम्बन्धी शिक्षा ग्रहण करने से अपना बड़प्पन घट जाएगा?

मेरा लाखों बच्चों का अनुभव है कि बच्चे किसी भी प्रकार की अच्छी शिक्षा देने से वे रुचि से उत्साहपूर्वक सुनते हैं, सीखते हैं, स्मरण रखते हैं और आवश्यकतानुसार उस शिक्षा को प्रायोगिक रुप से करते हैं परन्तु बड़ों में इससे विपरीत प्रवृत्ति पायी जाती है, जो विषय बड़ों को आता नहीं है उसे भी बड़े नहीं सीखते हैं और विशेष करके बच्चों के साथ एकदम नहीं सीखना चाहते हैं। किंतु बच्चे बच्चों के साथ तथा बड़ों के साथ भी मिलकर सीखते हैं। छोटे बच्चे स्कूल बैग लेकर रोज स्कूल में जाएँगे, उन्हें गृहकार्य भी अधिक दिया जाता है, ट्यूशन पढ़ने के लिए उन्हें बाध्य किया जाता है, परन्तु बड़े बच्चे पीरियड की भी पुस्तकें रोज लेकर नहीं जाते हैं। अनुशासन भी पालन नहीं करते हैं, होमवर्क कम मिलता है तथा कम करते हैं, ट्यूशन स्वेच्छा के ऊपर निर्भर है। इससे भी दुःखद् विडम्बना यह है कि जो पढ़ाई छोड़ देते हैं या पूर्ण कर लेते हैं अथवा नौकरी आदि अर्थोपार्जन कार्य प्रारंभ कर लेते हैं वे तो किसी भी प्रकार अध्ययन आदि नहीं करते हैं। वे सोचते हैं "मेरा सीखने का कार्य/समय पूर्ण हो गया, मैं तो अभी दूसरों को सिखाने वाला हूँ, मैं क्यों सीखूँ।" परन्तु जब तक अनन्तज्ञान नहीं हो जाता है तब तक सतत सीखना चाहिए। जो अच्छा विद्यार्थी होगा वह ही अच्छा शिक्षक होगा। इसलिए सापेक्षता की दृष्टि से बड़े बच्चों से पिछड़े हैं। यथा

बड़ा हुआ तो क्या हुआ जैसे पेड़ खजूर।
पंथी को छाया नहीं, फल लागे अति दूर।।

लघुता से प्रभुता मिले प्रभुता से प्रभु दूर।।

जैनाचार्यों ने साधुओं को बालकवत् सरल बनाकर दोषों को गुरु के समक्ष बोलकर प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होने के लिए कहा है –

जह बालोजंपंतो कज्जमकज्जं व उज्जुअं भणइ।
तह आलोचेदव्वं मायामोसं च मोत्तुणं।।

जैसे बालक बोलते हुए कार्य हो या अकार्य हो, सरल भाव से ही कहत है, कुछ छिपाता नहीं है। वैसे ही साधु को भी मनोगत कुटिलता और वचनगत झूठ को त्यागकर अपना अपराध कहना चाहिए।

उपर्युक्त कारणों से – "Child is the father (teaceher) of the man" कहा जाता है क्योंकि बच्चे वचनों से ही नहीं, कार्यों से बहुत शिक्षाएँ देते हैं इसीलिए बाल्यकाल ही योग्य विद्यार्थीकाल/ब्रह्मचर्याश्रम/संस्कारकाल है। जीवन के अधिकांश संस्कार बाल्यकाल में ही प्राप्त होते हैं। ईसा मसीह, भारतीय ऋषि-मुनि, आचार्य, शिक्षाशास्त्री, शिक्षा-मनोवैज्ञानिकों आदि ने बाल्यावस्था की शिक्षा, विद्या, संस्कार, सदाचार आदि को महत्व दिया है। तीर्थंकर तो गर्भ से ही तीन ज्ञान के धारी होते हैं। महात्मा बुद्ध, भक्त प्रह्लाद, ऋषि अष्टावक्र आदि भी बाल्यकाल से ही ज्ञानी थे। उपर्युक्त कारणों से बच्चों को पवित्र माना जाता है, उनका यात्रादि कार्य में दिखाई देना शुभ शकुन है। उनके पारदर्शी शरीर-क्रिया-कलाप से उनका भविष्य प्रतिभाषित होता है। इसीलिए कहा जाता है – "पूत के पाँव पालने में ही दिखते हैं" "होनहार बिरवान के होत हैं चिकने पात" अतएव नीतिकारों ने कहा हैं – " यथार्थ वचन बच्चों के भी ग्राह्य हैं परन्तु गुरु/बड़ों के अयथार्थ वचन नहीं।" "ज्ञानवृद्धि ही यथार्थ से वृद्धि है केवल बाल, शरीर, पकने से नहीं।" परन्तु अत्यन्त खेदपूर्ण अविश्वसनीय सत्य है कि बड़े या वे ही बच्चे जब बड़े हो जाते हैं तब बच्चों के अच्छे गुणों को त्याग देते हैं। जैसे कि अंगूर आदि सड जाने के बाद अपनी मधुरता, गुणवत्ता पौष्टिकता खो देते हैं और मद्य बनकर नशा उत्पन्न करते है, वैसा ही शिशु जब बड़ा बनता है तब वह सरलता, सहजता, मधुरता आदि गुण खो देता है और आयु, बल, जाति, धन, मान, ज्ञान, तप, सत्ता, प्रसिद्धि आदि के नशा/मद से मदमस्त हो जाता है। इससे उसका सर्वोदय विकास रुक जाता है परन्तु उपर्युक्त नशा के कारण वास्तविकता को नहीं समझ पाता है।

नींव महल की आधार शिला है, बीज वृक्ष की आधार शिला है संस्कार देना है तो बच्चों को दें वे धर्म राष्ट्र के आधार शिला हैं

6 स्व-पर दुःखद पुण्य से सुखद पाप भी श्रेष्ठ

(सत्ता पुण्यात्मा सम्पत्तिवाला नहीं सद्भाववाला है)

प्रत्यक्ष में देखने में, सुनने में, अनुभव में आता है कि कुछ दुष्ट, क्रूर, चोर, डाकू, लुटेरे, बदमाश, हिंसक, शोषक, झूठे, फरेब, धोखेबाज, आततायी, आतंकवादी, तस्कर, मिलावट करने वाले, गुण्डे आदि सत्ता, सम्पत्ति, पदवी, प्रसिद्धि संपन्न होते हैं तो कुछ सज्जन, गुणी, ज्ञानी, दयालु, परोपकारी, सहज-सरल व्यक्ति भी सत्ता, सम्पत्ति आदि से रहित पाये जाते हैं। तब जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि क्या उपर्युक्त वे दुष्ट आदि व्यक्ति पुण्यवान हैं या वे सज्जन आदि पुण्यवान हैं? साधारणतः जिसके पास सांसारिक धनादि वैभव है उसे पुण्यशाली माना जाता है और जिसके पास धनादि का अभाव है, भले वह सज्जन, गुणी, ज्ञानी भी है उसे पुण्यवान नहीं मानते हैं। परन्तु वस्तुतः 'पुण्य गुणाकर' (पुण्य पवित्र गुणों की खान है) ' पुण्यस्य बीज व्रत' (पुण्य का बीज व्रत है) 'पुनात्यात्मनं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्' (जो आत्मा को पवित्र करे या जिससे आत्मा पवित्र हो जाती है वह पुण्य है) आदि आगम सिद्धान्त से सिद्ध होता है कि पवित्र गुण, अहिंसा आदि व्रत जो आत्मा को पवित्र करने के साधन हैं वे यथार्थ से पुण्य हैं । धन, सम्पत्ति तो पूर्वोपार्जित पापानुबंधी पुण्य (धनादि प्राप्ति के लिए किया गया पुण्य) से और उस समय के असत् पुरुषार्थ से भी प्राप्त की जा सकती है तथा उस पापार्जित धनादि का भी भोग-विलासिता, फैशन-व्यसन, शोषण आदि में करके और भी पापार्जन किया जाता है। ऐसे धनादि तो तीनों काल में पाप स्वरूप हैं, स्व-पर दुःखदायी हैं, इसलिए ऐसा पुण्य, ऐसा पुण्य फल और उसके कर्ता वास्तव में पाप स्वरूप हैं। इतना ही नहीं, ऐसे पुण्य, पुण्य फल और पुण्यात्मा से ही अधिक युद्ध, कलह, शोषणादि के माध्यम से दूसरों को भी दुःख प्राप्त होता है। कंस, रावण, हिटलर आदि बर्बर राजा, महाराजा आदि तानाशाह इसके बड़े-बड़े उदाहरण हैं तो दुष्ट नेता, उद्योगपति, व्यापारी, नौकरशाह, अभिनेता आदि इसके अन्य उदाहरण हैं; इसके विपरीत भौतिक सत्ता, सम्पत्ति आदि से रहित संत, तीर्थंकर, सज्जन, परोपकारी, अहिंसक, दयालु व्यक्ति वास्तव में पुण्यात्मा हैं, धर्मात्मा हैं। भाव निर्मलता से किये गये धार्मिक कार्य से जो पुण्यानुबंधी पुण्य होता है उससे प्राप्त धन, वैभव, सत्ता, सम्पत्ति, बुद्धि आदि पवित्रता से युक्त होती है जिससे उसका सदुपयोग भी स्व-पर कल्याणार्थ होता है, परन्तु क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, ईर्ष्या, द्वेष, आसक्ति, कामासक्ति, कामनादि से प्रेरित

होकर या युक्त होकर किये गये धार्मिक कार्य से जो पुण्य (पापानुबंधी पुण्य) होता है उसमें पापशक्ति मिश्रित होती है जिससे प्राप्त धनादि भी पापयुक्त होते हैं, जिससे उसका उपयोग स्व-पर उपकार के बदले में स्व-पर अपकार के लिए होता है। इसलिए ऐसे व्यक्तिओं को न धर्मात्मा/पुण्यात्मा मानना चाहिए, न ही कहना चाहिए। उनका मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से समर्थन, सहयोग नहीं करना चाहिए। समर्थन करने से स्वयं को भी पापबंध होता है, पाप का समर्थन होता है जिससे पापी और भी बलशाली बनकर पाप करता है। इससे विपरीत गरीब पुण्यात्मा/धर्मात्मा का भी समर्थन,सहयोग, प्रशंसा आदि करने से स्वयं को भी पुण्यबन्ध होता है, पुण्य का समर्थन होता है जिससे पुण्यात्मा और भी उत्साहित होकर पुण्य करता है परन्तु अनुभव में आता है कि पापात्मा धनी आदि की प्रशंसा अधिकांश लोग करते हैं, भले वह धनी व्यक्ति धर्म, समाज आदि के लिए भी कुछ दानादि सहयोग के बदले में उनका शोषण आदि भी क्यों न करता रहे। इससे विपरीत गरीब आदि पुण्यात्मा व्यक्तिओं का अनादर आदि करते हैं इसलिए साधारण व्यक्ति येन-केन प्रकारेण धन कमाकर समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहता है परन्तु सज्जनता आदि गुण प्राप्त करने में साधारण व्यक्तिओं में उत्साह कम है। सम्यग्दृष्टि पुण्य से प्राप्त वैभव आदि का दानादि में उपयोग करता हुआ अनासक्त रूप से सीमित प्रयोग स्वयं के लिए करता है परन्तु इससे विपरीत मिथ्यादृष्टि पुण्य से प्राप्त धनादि का दानादि में प्रयोग नहीं करता हुआ आसक्ति पूर्वक भोग करता है जिससे मरकर नरकादि में जाता है।

किन के पुण्य हेय है ?

पुण्णेण होइ विहवो विहवेण होई मइ - मोहो।
मइ मोहेण य पाव ता पुण्णं अम्ह मा होउ।। 60//

पुण्य से घर में धन-वैभव होता है और धन से अभिमान, मान से बुद्धि भ्रम होता है। बुद्धि के भ्रम होने से (अविवेक से) पाप होता है इसलिए ऐसा पुण्य हमारा न हो।

सत्यं वाचि मतौ श्रुतं हृदि दया शौर्य भुजे विक्रमे।
लक्ष्मीर्दानमनूनमर्थिनिचये मार्गे गतिनिवृतेः ।।
प्राग्जनीहं तेऽपि निरहंकाराः श्रुतेगोचराश्चित्रं संप्रति।
लेशतोऽपि न गुणास्तेषां तथाप्युद्धताः ।। 60

भेदाभेद रत्नत्रय की आराधना से रहित देखे, सुने, अनुभवे भोगों की वांछारूप निदान बंध के परिणामों से सहित जो मिथ्यादृष्टि संसारी अज्ञानी जीव है,

उसने पहले उपार्जन किये भोगों की वांछारूप पुण्य, उसके फल से प्राप्त हुई सम्पदा घर में होने से अभिमान(घमण्ड) होता है, अभिमान से बुद्धि भ्रष्ट होती है, बुद्धि भ्रष्ट कर पाप कमाता है और पाप से भव-भव में अनन्त दुःख पाता है। इसलिए मिथ्यादृष्टियों का पुण्य पाप का ही कारण है। जो सम्यक्त्वादि गुण सहित भरत, राम, पाण्डव आदि विवेकी जीव हैं उनको पुण्य बंध अभिमान उत्पन्न नहीं करता परन्तु परम्परा से मोक्ष का कारण बनता है। जैसे -अज्ञानियों को पुण्य के फल-भूत विभूति गर्व के कारण हैं, वैसे सम्यक्दृष्टियों के नहीं हैं। वे सम्यग्दृष्टि के पुण्य के प्राप्त हुए चक्रवर्ती आदि की विभूति पाकर मद/ अहंकार आदि विकल्पों को छोड़कर मोक्ष को गये अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव चक्रवर्ती, बलभद्र पद में भी निरहंकारी रहे। ऐसा ही कथन आत्मानुशासन ग्रंथ में श्री गुणभद्राचार्य ने किया है - पहले समय में ऐसे सत्पुरूष हो गये हैं कि जिनके वचन में सत्य, बुद्धि में शास्त्र, मन में दया, पराक्रमरूप भुजाओं में शूरवीरता, याचकों में पूर्ण लक्ष्मी का दान और मोक्षमार्ग में गमन है; वे निरभिमानी हुए जिनको किसी गुण का अहंकार नहीं हुआ। उनके नाम शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं परन्तु अब बड़ा अचम्भा है कि इस पंचम काल में लेशमात्र भी गुण नहीं हैं तो भी उदंडपना है, यानी गुण तो रंचमात्र भी नहीं और अभिमान में बुद्धि रहती है। (परमात्म प्रकाश)

पाप भी उपादेय है

अथ येन पापफलेन जीवो दुःखं प्राप्य दुःखविनाशार्थं धर्माभिमुखो भवति तत्पापमपि समीचीनमिति दर्शयति –

वर जीव पावहूँ सुन्दर है णावई ताई भंणति।
जीवइँ दुक्खइँ जाणिवि लहु सिवमई जाइँ कुणति।। 54

आगे जिस पाप के फल से यह जीव नरकादि में दुःख पाकर उस दुःख को दूर करने के लिए धर्म सन्मुख होता है, वह पाप का फल भी श्रेष्ठ (प्रशंसा योग्य) है ऐसा दिखलाते हैं। हे ! जीव जिस पाप के उदय से जीव को दुःख देकर शीघ्र ही मोक्ष के जाने योग्य उपायों में बुद्धि कर ले तो वे पाप भी बहुत अच्छे हैं, ऐसा ज्ञानी कहते हैं। कोई जीव किसी पाप को करके नरक में गया वहाँ पर महान् दुःख भोगने से सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है क्योंकि उस जगह सम्यक्त्व की प्राप्ति के तीन कारण हैं। पहला तो यह है कि तीसरे नरक तक देवता उसे संबोधने (भेलावने को) जाते है। कभी किसी जीव को धर्म सुनने से सम्यक्त्व उत्पन्न हो जावे, दूसरा कारण - पूर्व भव का स्मरण और तीसरा नरक के पीड़ाकारी दुःख से दुःखी होना, नरक को महान् दुःख का स्थान जानकर नरक के कारण जो हिंसा, झूठ,

चोरी, कुशील, परिग्रह और आरम्भादि हैं उनको खराब जान के पाप से उदास होना। तीसरे नरक तक ये तीन कारण हैं। आगे के चौथे, पाँचवे, छठे, सातवें नरक में देवों का गमन न होने से धर्मश्रवण तो है ही नहीं लेकिन जातिस्मरण तथा वेदना से दुःख होने से पाप से भयभीत होना ये दो ही कारण हैं। इन कारणों को पाकर किसी जीव के सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है। इसमें से कोई भव्य जीव पाप के उदय से खोटी गति में गया, वहाँ जाकर यदि सुलट जावे तथा सम्यक्त्व पावे तो वह कुगति भी बहुत श्रेष्ठ है। यही योगीन्द्राचार्य ने मूल में कहा है कि जो पाप जीवों को दुःख प्राप्त करा करके फिर शीघ्र ही मोक्षमार्ग में बुद्धि को लगावे, तो वे अशुभ भी अच्छे हैं तथा जो अज्ञानी जीव किसी समय अज्ञान तप से देव भी हुआ और देव से मरकर एकेन्द्रिय हुआ तो वह देवपना किस काम का? अज्ञानी का देवपना भी वृथा है। जो कभी ज्ञान के प्रसाद से उत्कृष्ट देव होकर बहुत काल तक सुख भोगकर देव से मनुष्य होकर मुनिव्रत धारण करके मोक्ष को पावे तो वह भी अच्छा है। ज्ञानी पुरुष उन पापियों को भी श्रेष्ठ कहते हैं, जो पाप के प्रभाव से दुःख भोगकर उस दुःख से डरकर दुःख के मूल कारण पाप को जानकर उस पाप से उदास होवे, वे प्रशंसा करने योग्य हैं, अन्य पापी जीव प्रशंसा के योग्य नहीं हैं क्योंकि पाप क्रिया हमेशा निन्दनीय है। भेदाभेद रत्नत्रय स्वरूप श्री वीतराग देव के धर्म को जो धारण करते हैं, वे श्रेष्ठ हैं। यदि सुखी धारण करे तो भी ठीक और दुःखी धारण करते हैं तब भी ठीक। क्योंकि शास्त्र का वचन है कि कोई महाभाग दुःखी होते हुए भी धर्म में लवलीन होते हैं। (परमात्म प्रकाश)

दुःख में सुमिरण सब करें, सुख में करे न कोय।
जो सुख में सुमिरण करे, तो दुःख काहे होय।।

साधारणतः संसारी जीव दुःख के समय में धर्म का आचरण करता है परन्तु धर्म के कारण किंचित् सुख प्राप्त होने से धर्म को ही भूल जाता है, पापादि क्रिया में लग जाता है, तब पुनः दुःख प्राप्त होता है। यदि जीव सुख के समय में भी धर्म आचरण करने लगेगा तो कभी भी दुःख नहीं होगा -

कृत्वा धर्मविघातं विषयसुखान्यनुभवन्ति ये मोहात्।
आच्छिद्य तरुन् मूलात् फलानि गृणन्ति ते पापाः।।

जो मोही कामांध, विषयासक्त, जीव अज्ञानता से धर्म को नष्ट करके विषय सुखों का अनुभव करते हैं, वे पापी वृक्ष को जड़ से उखाड़कर फल को ग्रहण करना चाहते हैं अर्थात् पूर्व पुण्यकर्म के उदय से जो कुछ वैभव मिला है, उस वैभव में लीन

होकर जो केवल भोगासक्त होते हैं, वे पूर्व उपार्जित पुण्य को पूर्ण रूप से भोगते ही हैं। परन्तु नवीन पुण्यार्जन नहीं करते जिससे पाप ही पाप उनके पल्ले में रहता है, उससे वे नरक, निगोद में जाते हैं। इसलिए पूर्वोपार्जित पुण्य से वैभव मिला उसको बिना त्यागे भोग करने से उस पुण्य से उसकी दुर्गति हुई। इस प्रकार से पुण्य हेय है। (आत्मानुशासन)

मिथ्यादृष्टि को पापानुबंधी पुण्य से जो वैभव की प्राप्ति होती है उस वैभव में मिथ्यादृष्टि लीन होकर आसक्ति पूर्वक भोग करता है। किंतु त्याग नहीं करता। उसका वैभव अर्थात् पुण्यफल संसार का कारण है, इसलिए उसका पुण्य कर्म परम्परा से मोक्ष का कारण नहीं होता है। किंतु संसार का कारण होता है अर्थात् पुण्यफल रूप वैभव को प्राप्त कर जो आसक्ति पूर्वक भोगता है वह मिथ्यादृष्टि है, रागी, बहिरात्मा है। सम्यग्दृष्टि का पुण्यानुबंधी पुण्य है। सम्यग्दृष्टि उस पुण्य के फल स्वरूप वैभव को प्राप्त कर उसमें वह आसक्तिपूर्वक लीन नहीं होता है। वह सोचता है, जानता है, मानता है कि यह वैभव मेरे आत्मस्वरूप से पृथक् है, पुण्यकर्म का फल है। कुछ चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से आत्मिक शक्ति अभाव से रोगी जैसे तिक्त औषध सेवन करता है, अनासक्ति पूर्वक उसी प्रकार वह सम्यग्दृष्टि भोग को रोग मानकर निरुपाय होकर अनासक्तिपूर्वक भोगता है। वह अनासक्तिपूर्वक भोगते हुए कर्म को बाँधता ही है परन्तु जितने अंश में अनासक्ति भाव है, उतने अंश में कर्मबंध नहीं होता है, बल्कि अन्तरंग में सतत भोगों की निंदा गर्हा करते हुए उन भोगों से छुटने के लिए रास्ता ढूँढता रहता है। जब तक जीव संपूर्ण भोग, आरंभ, परिग्रह से विरक्त नहीं हो पाता है तब तक स्वशक्ति के अनुसार दान, पूजा, गुरुसेवादि करते हुए पूर्व पुण्य का सदुपयोग करता है और अन्त में समस्त अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह को त्याग कर निर्ग्रन्थ होकर व्यवहार-निश्चय रत्नत्रय को साध कर मोक्ष पदवी को प्राप्त करता है। इसलिए सम्यग्दृष्टि का पुण्य परम्परा से मोक्ष का कारण है तथा मिथ्यादृष्टि का पुण्य परम्परा से संसार का कारण है। "आर्त नरा धर्मपरा भवन्ति" पाप कर्म के उदय से जीव को जब कष्ट उठाना पड़ता है, उस समय में वह पापकर्मों का स्वरूप समझकर पाप से निवृत्त होकर धर्म में लगता है। जैसे नरक में तीव्र वेदना का अनुभव कर नारकी पापफलों का चिंतन करके सम्यग्दृष्टि हो जाता है, इसी प्रकार जीव पाप कर्म के फल से संतप्त होकर पाप से डर कर अधर्म छोड़कर धर्म करने लगता है। इसलिए संसार में विरक्त होने के लिए एवं धर्म में प्रवृत्ति होने के लिए पाप कर्म भी निमित्त है अर्थात् जिस पापफल से दुःखों से, संताप से, संकटों से जीव भयभीत होकर धर्म में लगते हैं, वह पाप

भी उपादेय है। इसलिए भव्य जीवों को सम्बोधन करते हुए आचार्य ने प्रेरणा दी है –

सुखितस्य दुःखितस्य च संसार धर्म एव तव कार्य।
सुखितस्य तदभिवृद्धयै दुःख भुजस्तदुपघाताय।। *8*

हे जीव! तू चाहे सुख का अनुभव कर रहा हो चाहे दुःख का, अनुभव कर रहा है किंतु संसार में इन दोनों ही अवस्था में एक मात्र कार्य धर्म ही होना चाहिए, कारण यह है कि वह धर्म – यदि तू सुख का अनुभव कर रहा है तो तेरे उस सुख की वृद्धि का कारण होगा और यदि तू दुःख का अनुभव कर रहा होगा तो वह धर्म तेरे उस दुःख के विनाश का कारण होगा।

पापाणुबंधी पुण्य से प्राप्त वैभवादि के कारण जीव जो पाप करता है उससे नरकादि दुर्दशा होती है। निम्न में पापाणुबन्धी के कारण, परिणाम, फल के बारे में सविस्तार वर्णन कर रहे हैं –

I *नरकायु के बंध के परिणाम*

आयुस्स बंध समये सिलोव्व सेलोव्व वेणु मुले य।
किमिरायव्व कसाओदयम्हि बंधेदि णिरयाउं।। *294 ति.प.*

आयुबंध के समय शिला की रेखा सदृश क्रोध, शैल सदृश मान, बांस की जड़ सदृश माया और किमिराग (किरमिच, लालरंग) सदृश लोभ कषाय का उदय होने पर नरकायु का बंध होता है।

किण्हाअ णील-काऊणुदयादो बंधिऊण णिरयाऊ।
मरिऊण ताहि जुत्तो, पावइं णिरयं महाघोरं।। *295*

कृष्ण, नील अथवा कापोत इन तीन लेश्याओं का उदय होने से (जीव) नरकायु बांधकर और मरकर उन्हीं लेश्याओं से युक्त हुआ महा भयानक नरक को प्राप्त करता है।

अशुभ-लेश्या युक्त जीवों के लक्षण

किण्हादि-ति-लेस्स-जुदा, जे पुरिसा ताण लक्खणं एदम्।
गोत्तं तह स-कलत्तं, एक्कं वंछेदि मारिदुं दुट्ठो ।। *296*
धम्मदया-परिचत्तो, अमुक्क-वइरो पयंड-कलह-यरो।
बहु-कोहो किण्हाए, जम्मदि धूमादि-चरिमंते।। *297*

जो पुरुष कृष्णादि तीन लेश्याओं सहित होते हैं, उनके लक्षण इस प्रकार हैं – ऐसे दुष्ट पुरुष(अपने ही) गोत्रीय तथा एकमात्र स्वकलत्र को भी मारने की इच्छा करते हैं, दयाधर्म से रहित होते हैं, कभी शत्रुता का त्याग नहीं करते, प्रचण्ड

कलह करनेवाले और बहुत क्रोधी होते हैं। कृष्ण लेश्या- धारी ऐसे जीव धूमप्रभा पृथ्वी से लेकर अन्तिम पृथ्वी पर्यन्त जन्म लेते हैं।

विसयासत्तो विमदी, माणी विण्णाण-वज्जिदो मंदो।
अलसो भीरू माया-पवंच-बहुलो य णिद्दालू।। *298*
परवंचणप्पसत्तो, लोहंधो धण्ण धण्ण-सुहाकंखी।
बहु-सण्णा णीलाए, जम्मदि तदियादि धूमंतम्।। *299*

विषयों में आसक्त, मतिहीन, मानी, विवेक-बुद्धि से रहित, मूर्ख, आलसी, कायर, प्रचुर माया-प्रपंच में संलग्न, निद्राशील, दूसरों को ठगने में तत्पर, लोभ से अन्धा, धन-धान्य जनित सुख का इच्छुक एवं बहुसंज्ञा (आहार-भय-मैथुन और परिग्रह संज्ञाओं) में आसक्त जीव नील लेश्या को धारण कर धूमप्रभा पृथ्वी पर्यन्त जन्म लेता है।

अप्पाणं मण्णंता, अण्णं णिंदेदि अलिय-दोसेहिम्।
भीरू सोक-विसण्णो, परावमाणी असूया अ।। 300।।
अमुणिय – कज्जाकज्जो , धूवंतो परम – पहरिसं वहइ।
अप्पं पि वि मण्णंतो, परं पि कस्स विण-पत्तिअई।। 301।।
थुव्वंतो देइ धणं, मरिदुं वंछेदि समर-संघट्टे।
काऊए संजुत्तो, जम्मदि घम्मादि-मेघंतम्।। 302।।

जो स्वयं की प्रशंसा और मिथ्या दोषों के द्वारा दूसरों की निंदा करता है, भीरु है, शोक से खेद-खिन्न होता है, पर का अपमान करता है, ईर्ष्याग्रस्त है, कार्य-अकार्य को नहीं समझता है, चंचलचित्त होते हुए भी अत्यन्त हर्ष का अनुभव करता है, अपने समान ही दूसरों को भी समझकर किसी का भी विश्वास नहीं करता है, स्तुति करने वालों को धन देता है और समर-संघर्ष में मरने की इच्छा करता हैं, ऐसा प्राणी कापोत लेश्या से संयुक्त होकर धर्मा से मेघा पृथ्वी पर्यन्त जन्म लेता है।

नरकों में उत्पन्न होने के अन्य भी कारण

सम्मत्त-रयण-पव्वद-सिहरादो मिच्छभाव-खिदि-पडिदो ।
णिरयादिसु अइ-दुक्खं, पाविय पविसइ णिगोदम्मि।। 358

सम्यक्त्वरूपी रत्न पर्वत के शिखर से मिथ्यात्व-भावरूपी पृथ्वी पर पतित हुआ प्राणी नारकादि पर्यायों में अत्यन्त दुःख प्राप्त कर (परम्परा से) निगोद में प्रवेश करता है।

सम्मत्तं देसजमं, लहिदूणं विसय-हेदुणा चलिदो।
णिरयादिसु अइ-दुक्खं, पाविय पविसइ णिगोदम्मि।। 359

सम्यक्त्व और देशचारित्र को प्राप्त कर जीव विषय सुख के निमित्त (सम्यक्त्व और चारित्र से) चलायमान हुआ नरकों में अत्यन्त दुःख भोग कर (परम्परा से) निगोद में प्रवेश करता है।

सम्मत्तं सयलजमं, लहिदूणं विसय-कारणा चलिदु।
णिरयादिसु अइ-दुक्खं, पाविय पविसइ णिगोदम्मि।। 360

सम्यक्त्व और सकल संयम को भी प्राप्त कर विषयों के कारण उनसे चलायमान होता हुआ यह जीव नरकों में अत्यन्त दुःख पाकर (परम्परा से) निगोद में प्रवेश करता है।

सम्मत्त-रहिय-चित्तो, जोइस-मंतादिएहि वट्टंतो ।
णिरयादिसु बहुदुक्खं, पाविय पविसइ णिगोदम्मि।। 361

सम्यग्दर्शन से विमुख चित्तवाला, ज्योतिष और मंत्रादिकों से आजीविका करता हुआ जीव, नरकादिक में बहुत दुःख पाकर (परम्परा से) निगोद में प्रवेश करता है।

नरकगति में उत्पत्ति के कारण

मज्जं पिबंता, पिसिदं लसंता, जीवे हंणता, मिगयाणुरत्ता।
णिमेस-मेत्तेण, सुहेण पावं,पावंति दुक्खं, णिरए अणतम्।। *366*

मद्य पीते हुए, मांस की अभिलाषा करते हुए, जीवों का घात करते हुए और मृगया(शिकार) में अनुरक्त होते हुए जो मनुष्य क्षण मात्र सुख के लिए पाप उत्पन्न करते हैं, वे नरक में अनन्त दुःख उठाते हैं।

लोह-कोह-भय-मोह-बलेणं, जे वदंति वयणं पि असच्चम्।
ते निरंतर भये उरू-दुक्खे, दारूणम्मि निरयम्मि पढंते। *367*

जो जीव लोभ-क्रोध-भय अथवा मोह के बल से असत्य वचन बोलते हैं, वे निरंतर भय उत्पन्न करने वाले, महान् कष्टकारक और अत्यन्त भयानक नरक में पड़ते हैं।

छेत्तुण भित्तिं, वधिदुण पीयं, पट्टादि घेत्तुण धणं हरंता।
अण्णेहि अण्णाअसएहिं मुढा,भुंजंति दुक्खं निरयम्मि घोरे। *368*

भीत को छेदकर अर्थात् सेन्ध लगाकर, प्रियजन को मारकर और पट्टादि को ग्रहण करके, धन का हरण करने वाले तथा अन्य भी ऐसे ही सैकड़ों अन्यायों से, मूर्ख लोग भयानक नरक में दुःख भोगते हैं।

लज्जाए चत्ता मयणेण मत्ता, तारूण-रत्ता परदार-सत्ता ।
रत्ति-दिणं मेहुण-माचरंता, पावंति दुक्खं णिरएसु घोरम्।। *369*

लज्जा से रहित, काम से उन्मत्त, जवानी में मस्त, परस्त्री में आसक्त और रात-दिन मैथुन का सेवन करनेवाले प्राणी नरकों में जाकर घोर दुःख प्राप्त करते हैं।

पुत्ते कलत्ते सुजणम्मि मित्ते, जे जीवणत्थं पर-वंचणेण ।
वहंति तिण्णा दविणं हरंते, ते तव्व-दुक्खे णिरयम्मि जंति। *370*

पुत्र, स्त्री, स्वजन और मित्र के जीवनार्थ जो लोग दूसरों को ठगते हुए अपनी तृष्णा बढाते हैं तथा पर के धन का हरण करते हैं, वे तीव्र दुःख को उत्पन्न करने वाले नरक में जाते हैं।

रत्नप्रभादि नरकों में जन्म भूमियों के आकारादि

इंदय - सेढीबद्ध - प्पइण्णयाणं हवंति उवरम्मि।
बाहिं बहु अस्सि-जुदो, अंतो वट्टा अहोमुहा-कंठा।। *303*
घेट्ठेदि जम्मभूमी, सा धम्मप्पहुदि - खेत्त - तिदयम्मि।
उट्ठिय-कोत्थलि-कुंभी-मोद्दलि-मोग्गर-मुइग-णालि-णिहा। *304*

इंद्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों के ऊपर अनेक प्रकार की तलवारों से युक्त, भीतर गोल और अधोमुखकण्ठ वाली जन्म-भूमियाँ हैं, वे जन्मभूमियाँ धर्मा पृथ्वी से तीसरी मेघा पृथ्वी पर्यन्त उष्ट्रिका, कोथली, कुम्भी, मुद्गलिका, मुद्गर, मृदंग और नाली के सदृश हैं।।

गो-हत्थि-तुरय-भत्था, अज्जप्पुड-अंबरीस-दोणीओ।
चउ - पंचम-पुढवीसुं, आयारो जम्म-भूमीणं।। *305*

चौथी और पाँचवी पृथिवी में जन्म-भूमियों के आकार गाय, हाथी, घोडा, अब्जपुट, अम्बरीष (भडभूजा के भाड) और द्रोणी (नाव) जैसे हैं।

झल्लरि- मल्लय- पत्थी-केयूर-मसूर-साणय-किलिंजा।
धय- दीवि-चक्कवायस्सिगाल सरिसा महाभीमा।। *306*
अज्ज-खर-करह-सरिसा, संदोल अ-रिक्ख-संणिहायारा।
छस्सतम -पुढवीणं, दुरिक्ख- णिज्जा महाघोरा।। *307*

छठ्ठी और सातवीं पृथ्वी की जन्मभूमियाँ झालर (वाद्य विशेष), मल्लक (पात्र विशेष), बाँस का बना हुआ पात्र, केयूर, मसूर, शाणक, किलिंज (तृण की बनी बड़ी टोकरी), ध्वज, द्वीप, चक्रवाल, शृगाल, अज, खर, करभ, संदोलक (झूला) और रीछ के सदृश हैं। ये जन्म-भूमियाँ दुष्प्रेक्ष्य एवं महाभयानक हैं।

करवत्त- सरिच्छाओ, अंते वट्टा समंतदो ठाओ।
वज्जमइओ णारय-जम्मण-भूमिओ भीमाओ।। *308*

नारकियों की (उपर्युक्त) जन्म-भूमियाँ अन्त में करोंत के सदृश, चारों ओर

से गोल वज्रमय, कठोर और भयंकर हैं।

अज-गज-महिस-तुरंगम-खरोट्ट-मज्जार-मेस पहुदीणं ।
कुथिताणं गंधादो, णिरय गंधा अणंतगुणा।। 309

बकरी, हाथी, भैंस, घोडा, गधा, ऊँट, बिलाव और मेढे आदि के सड़े-गले शरीरों की दुर्गन्ध की अपेक्षा नरकों में अनन्तगुणी दुर्गन्ध है।

II नरकों के दुःखों का वर्णन

पावेणं णिरय - बिले, जादूणं तो मुहुत्तमेत्तेण ।
छप्पज्जतिं पाविय, आकस्सिय-भय-जुदो-होदि।। 314
भीदीए कंपमाणा, चलिदुं दुक्खेण पेल्लिओ संतो।
छत्तीसाउह-मज्झे, पडिदूणं तत्थ उप्पलइ।। 315

नारकी जीव पाप से नरकबिल में उत्पन्न होकर और एक मुहूर्त मात्र काल में छह पर्याप्तियों को प्राप्त कर आकस्मिक भय से युक्त होता है। भय से कांपता हुआ बड़े कष्ट से चलने के लिए प्रस्तुत होकर छत्तीस आयुधों के मध्य में गिरकर वहाँ से उछलता है।

उच्छेह- जोयणाणि, सत्त धणू छस्सहस्स- पंच-सया।
उप्पलइ पढम-खेत्ते, दुगुणं दुगुणं कमेण सेसेसु।। 316

पहली पृथिवी में जीव सात उत्सेध योजन और छह हजार पांचसौ धनुष प्रमाण ऊँचा उछलता है, शेष पृथिवियों में उछलने का प्रमाण क्रमशः उत्तरोत्तर दूना दूना है।

दट्ठूण मय-सिलिंबं जह वग्घो तह पुराण-णेरइया।
णव-णारयं णिसंसा, णिब्भच्छंता पधावंति।। 317

जैसे व्याघ्र मृग शावक को देखकर उस पर झपटता है, वैसे ही क्रूर पुराने नारकी नये नारकी को देखकर धमकाते हुए उसकी ओर दौड़ते हैं।

साण- गणा एक्केक्के, दुक्खं दावंति दारूण- पयारं।
तह अण्णोणं णिच्चं, दुस्सह-पिडाओ कुव्वति।। 318

जिस प्रकार कुत्तों के झुण्ड एक दूसरे को दारुण दुःख देते हैं उसी प्रकार वे नारकी भी नित्य ही परस्पर एक दूसरे को असह्य रूप से पीड़ित किया करते हैं।

चक्क- सर - सूल-तोमर- मोग्गर-करवत्त-कोंत्त-सूईणं।
मुसलासि - प्पहुदीणं, वण-णग-दावाणलादीणं।। 319
वय -वग्घ -तरच्छ सिगाल-साण मज्जार-सीह-पक्खीणं।
अण्णोण्णं च सया ते, णिय-णिय-देहं विगुव्वंति।। 320

वे नारकी जीव, चक्र, बाण, शूली, तोमर, मुद्गर, करोंत, भाला, सूई, मूसल और तलवार आदिक शस्त्रास्त्र रूप वन एवं पर्वत की आग रूप तथा भेड़िया, व्याघ्र, तरक्ष (श्वापद), शृगाल, कुत्ता, बिलाव और सिंह आदि पशुओं एवं पक्षियों के समान परस्पर सदैव अपने-अपने शरीर की विक्रिया किया करते हैं।

गहिर-बिल-धूम-मारूद-अइतत्त-कहल्लि-जंत-चुल्लीणं।
कंडणि-पीसणी -दव्वीण, रूवमण्णे विकुव्वंति।। 321

अन्य नारकी जीव गहरे बिल, धुआँ, वायु, अत्यन्त तपे हुए खप्पर, यंत्र, चूल्हे, कण्डनी (एक प्रकार का कूटने का उपकरण), चक्की और दर्वी (बर्छी) आकर रूप अपने-अपने शरीर की विक्रिया करते हैं।।

सूवर-वणग्गि-सोणिद- किमि -सरि-दह-कूव-वाइ-पहुदीणं।
पुह - पुह-रूव-विहीणा, णिय-णिय-देहं पकुव्वंति।। 322

नारकी जीव शूकर, दावानल तथा शोणित और कीड़ों से युक्त नदी, तालाब, कूप एवं वापी आदि रूप पृथक्-पृथक् रूप से रहित अपने-अपने शरीर की विक्रिया करते हैं। तात्पर्य यह है कि नारकियों के अपृथक् विक्रिया होती है, देवों के सदृश उनके पृथक् विक्रिया नहीं होती।

पेच्छिय पलायमाणं, णारइयं वग्घ - केसरी - प्पहुदि।
वज्जमय-वियल-तोंड़ा, कत्थ वि भक्खंति रोसेण।। 323

वज्रमय विकट मुख वाले व्याघ्र और सिंहादिक, पीछे को भागनेवाले दूसरे नारकी को कहीं पर भी क्रोध से खा डालते हैं।

पीलिज्जंते केई जंत - सहस्सेहिं विरस - तिलवंता।
अण्णे हम्मंति तहिं, अवरे छेज्जंति विविह-भंगेहिं।। 324

चिल्लाते हुए कितने ही नारकी जीव हजारों यंत्रों (कोल्हुओं) में तिल की तरह पेल दिये जाते हैं। दूसरे नारकी जीव वहीं पर मारे जाते हैं और इतर नारकी विविध प्रकार से छेदे जाते हैं।

अण्णोण्णं बज्झते, वज्जोगं - संखलाहिं थंभेसु।
पज्जलिदम्मि हुदासे, केई छुब्भंति दुप्पिच्छे।। 325।।

कई नारकी परस्पर वज्रतुल्य सांकलों द्वारा खंभों से बांधें जाते हैं और कई अत्यन्त जाज्वल्यमान दुष्प्रेक्ष्य अग्नि में फेंके जाते हैं।

फालिज्जंते केई दारूण - करवत्त-कंटअ-मुहेहिं।
अण्णे भयंकरेहिं, विज्झंति विचित्त-भल्लेहिं।। 326

कई नारकी विदारक करोंत (आरी) के काँटों के मुखों से फाडे जाते हैं और

इतर नारकी भयंकर और विचित्र भालों से बींधे जाते हैं।

लोह-कड़ाहावट्टिद-तेल्ले तत्तम्मि के वि छुब्भंति।
घेत्तूणं पच्चंते जलंत-जालुक्कड़े जलणे ।। *327*

कितने ही नारकी जीव लोहे के कडाहों में स्थित गरम-तैल में फेंके जाते हैं और कितने ही जलती हुई ज्वालाओं से उत्कट अग्नि में पकाए जाते हैं।

इंगालजाल - मुम्मुर - अग्गी - दज्झंत-मह-सरीरा ते।
सीदल-जल-मण्णंता, धाविय पविसंति वइतरिणिं।। *328*

कोयले और उपलों की आग में जलते हुए स्थूल शरीर वाले वे नारकी जीव शीतल जल समझते हुए वैतरणी नदी में दौड़कर प्रवेश करते हैं।

कत्तरि - सलिलायारा, णारइया तत्थ अंगाणिं।
छिंदंति दुस्सहावो, पावंता विविह-पीड़ाओ।। *329*

उस वैतरणी नदी में कर्तरी (कैंची) के समान तीक्ष्ण जल के आकार परिणत हुए दूसरे नारकी उन नारकियों के शरीरों को अनेक प्रकार की दुस्सह पीड़ाओं को पहुँचाते हुए छेदते हैं।

जलयर - कच्छव-मंडुक-मयर-पहुदीण विविह-रूवधरा ।
अण्णोण्णं भक्खंते, वइतरिणी-जलम्मि णारइया।। *330*

वैतरणी नदी के जल में नारकी कछुआ, मेंढक और मगर आदि जलचर जीवों के विविध रूप धारण कर एक दूसरे का भक्षण करते हैं।

वइतरणी - सलिलादो, णिस्सरिदा पव्वदं पलावंति।
तस्सिहरमारूहंते, तत्तो लोट्टंति अण्णोण्णं ।। *331*
गिरि - कंदर विसंतो, खज्जंते वग्घ-सिंह पहुदीहिं।
वज्जुक्कड़-दाड़ेहिं, दारूण-दुक्खाणि सहमाणा।। *332*

वैतरणी के जल से निकलते हुए (वे नारकी) पर्वत की ओर भागते हैं, वे उन पर्वतों के शिखरों पर चढ़ते हैं तथा वहाँ से एक-दूसरे को गिराते हैं। (इस प्रकार) दारुण दुःखों को सहते हुए (वे नारकी) पर्वत की गुफाओं में प्रवेश करते हैं। वहाँ वज्र सदृश प्रचण्ड दाढ़ों वाले व्याघ्रों एवं सिंहों आदि द्वारा खाये जाते हैं।

विउल-सिला-विच्चाले, दट्ठूण बिलाणि झत्ति पविसंति।
तत्थ वि विसाल-जालो, उट्ठदि सहसा-महाअग्गी।। *333*

पश्चात् वे नारकी विस्तीर्ण शिलाओं के बीच में बिलों को देखकर शीघ्र ही उनमें प्रवेश करते हैं परन्तु वहाँ पर भी सहसा विशाल ज्वालाओं वाली महान् अग्नि उठती है।

दारूण - हुदास - जाला-मालाहिं दज्झमाण-सव्वंगा।
सीदल-छायं मणिय, असिपत्त-वणम्मि पविसंति।। *334*

पुनः जिनके सम्पूर्ण अंग भीषण अग्नि की ज्वाला-समूहों से जल रहे हैं, ऐसे वे नारकी (वृक्षों की) शीतल छाया जानकर असिपत्रवन में प्रवेश करते हैं।

तत्थ वि विविह-तरूणं, पवण-हदा तवअ-पत्त-फल-पुंजा।
णिवड़ंति ताण उवरिं, दुप्पिच्छा वज्जदंडे व ।। *335*

वहाँ पर भी विविध प्रकार के वृक्ष, गुच्छे, पत्र और फलों के समूह पवन से ताड़ित होकर उन नारकियों के ऊपर दुर्प्रेक्ष्य वज्रदण्ड के समान गिरते हैं।

चक्क-सर-कणय-तोमर-मोग्गर - करवाल-कांत-मुसलाणिं ।
अण्णाणि वि ताण सिरं, असिपत्त-वणादु णिवडंति।। *336*

उस असिपत्र-वन से चक्र, बाण, कनक (शलाकाकार ज्योतिःपिण्ड), तोमर (बाण विशेष), मुद्गर, तलवार, भाला, मूसल, तथा अन्य और भी अस्त्र-शस्त्र उन नारकियों के सिरों पर गिरते हैं।

छिण्ण - सिरा भीण्ण-करा, तुडिदच्छा लंबमाण-अंतचया।
रूहिरारूण-घोरतणू , णिस्सरणा तं वणं पि मुंचंति।। *337*

अनन्तर छिन्न सिर वाले, खण्डित हाथ वाले, व्यथित नेत्र वाले, लटकती हुई आँतों के समूह वाले और खून से लाल तथा भयानक वे नारकी अशरण होते हुए उस वन को छोड़ देते हैं।

गिद्धा गरूडा काया, विहगा अवरे वि वज्जमय-तुंडा।
कादूण खंड-खंड, ताणंगं ताणि कवलंति।। *338*

गृद्ध, गरुड, काक तथा और भी वज्रमय मुख (चोंच) वाले पक्षी नारकियों के शरीर के टुकड़े-टुकड़े करके खा जाते हैं।

अंगोवंगट्ठीणं, चुण्णं कादूण चंड - घादेहिं ।
विउण-वणाणं मज्झे, छुहंति बहुखार-दव्वाणि।। *339*
जइ विलवयंति करूणं, लग्गंते जइ वि चलण-जुगलम्मि।
तह विह सण्णं खंडिय, छुहंति चुल्लीसु णारइया।। *340*

अन्य नारकी उन नारकियों के अंगों और उपांगों की हड्डियों का प्रचंडघातों से चूर्ण करके विस्तृत घावों के मध्य क्षार-पदार्थ को डालते हैं,जिससे वे नारकी करुणापूर्ण विलाप करते हैं और चरणों में आ लगते हैं, तथापि अन्य नारकी उसी खिन्न अवस्था में उन्हें खण्ड-खण्ड करके चूल्हे में डाल देते हैं।

लोहमय - जुवइ-पडिमं, परदार-रदाण गाढमंगेसु।
लायंते अइ-तत्तं, खिवंति जलणे जलंतम्मि।। 341

पर-स्त्री में आसक्त रहने वाले जीवों के शरीरों में अतिशय तपी हुई लोहमय युवती की मूर्ति को दृढता से लगाते हैं और उन्हें जलती हुई आग में फेंक देते हैं।

मांसाहार - रदाणं, णारइया ताण अंग-मंसाइं ।
छेत्तूण तम्मुहेसुं, छुहंति रूहिरोल्लरूवाणिं ।। 342

जो जीव पूर्वभव में मांस-भक्षण के प्रेमी थे, उनके शरीर के मांस को काटकर अन्य नारकी रक्त से भीगे हुए उन्हीं मांस-खंडों को उन्हीं के मुखों में डालते हैं।

महु-मज्जाहाराणं, णारइया तम्मुहेसु अइ-तत्तं।
लोह-दवं घल्लंते, विलीयमाणंग-पब्भारं।। 343

मधु और मद्य का सेवन करने वाले प्राणियों के मुखों में नारकी अत्यन्त तपे हुए द्रवित लोहे को डालते हैं, जिससे उनके संतप्त अवयव-समूह भी पिघल जाते हैं।

करवाल-पहर-भिण्णं, कूव-जलं जह पुणो वि संघडदि।
तह णारयाण अंगं, छिज्जंतं विविह-सत्थेहिं।। 344

जिस प्रकार तलवार के प्रहार से भिन्न हुए कुए का जल फिर से मिल जाता है, उसी प्रकार अनेकानेक शस्त्रों से छेदा गया नारकियों का शरीर भी फिर से मिल जाता है अर्थात् अनेकानेक शस्त्रों से छेदने पर भी नारकियों का अकाल-मरण नहीं होता।

कच्छुरि - करकच - सूई-खदिरंगारादि-विविह-भंगीहिं ।
अझण्णोण्ण-जादणाओ, कुणंति णिरएसु णारइया।। 345

नरकों में कच्छुरि (कपिकच्छु केवाँच अर्थात् खाज पैदा करने वाली औषधि), करोंत, सूई और खैर की आग इत्यादि विविध प्रकारों से नारकी परस्पर यातनाएँ दिया करते हैं।

अइ-तित्त-कडुव-कत्थरि-सत्तीदो मट्टियं अणंतगुणं।
थम्माए णारइया, थोवं ति चिरेण भुंजंति।। 346

धर्मा पृथ्वी के नारकी अत्यन्त तिक्त और कडवी कत्थरि (कचरी या आचार?) की शक्ति से भी अनन्तगुनी तिक्त और कड़वी थोड़ी-थोड़ी मिट्टी चिरकाल खाते रहते हैं।

अज-गज-महिस-तुरंगम-खरोट्ठ - मज्जार-मेस-पहुदीणं।
कुहिताणं गंधादो, अणंत-गुणिदो हवेदि आहारो।। 347

नरकों में बकरी, हाथी, भैंस, घोड़ा, गधा, ऊँट, बिल्ली और मेढ़े आदि के

सड़े हुए शरीरों की गंध से अनन्तगुनी गन्धवाला आहार होता है।

अदि-कुणिम-मसुह-मण्णं, रयणप्पह-पहुदि जाव चरिमखिदिं।
संखातीद - गुणेहिं, दुगुच्छणिज्जो हु आहारो ।। 348

रत्नप्रभा से लेकर अन्तिम पृथ्वी पर्यन्त अत्यन्त सड़ा, अशुभ और उत्तरोत्तर असंख्यातगुणा ग्लानिकर अन्य प्रकार का आहार होता है।

थम्माए आहारो, कोसस्सब्भंतरम्मि ठिद - जीवे ।
इह मारइ गंधेणं, सेसे कोसद्ध-वड्ढिया सत्ती।। 349

धर्मा पृथ्वी में जो आहार है, उसकी गंध से यहाँ पर (मध्यलोक में) एक कोस के भीतर स्थित जीव मर सकते हैं, इसके आगे शेष दूसरी आदि पृथिवी में इसकी घातक शक्ति आधा-आधा कोस और भी बढ़ती गयी है।

एक्क ति सग दस सत्तरस, तह बावीसं होंति तेत्तीसं।
जा सायर-उवमाण, पावंते ताव मह-दुक्खं।। 354

रत्नप्रभादि पृथ्वियों में नारकी जीव जब तक क्रमशः एक, तीन, सात, दस, सत्तरह, बाईस और तैंतीस सागरोपम पूर्ण होते हैं, तब तक बहुत भारी दुःख उठाते हैं।

णिरएसु णत्थि सोक्खं, णिमेस-मेत्तं पि णारयाणं सदा।
दुक्खाइ दारूणाइं, वड्ढंते पच्चमाणाणं ।। 355

नरकों के दुःखों में पचने वाले नारकियों को क्षणमात्र के लिए भी सुख नहीं है, अपितु उनके दारुण-दुःख बढते ही रहते हैं।

कलीघादेण विणा, णारय-गत्ताणि आउ-अवसाणे।
मारूद-पहदब्भाइ व, णिस्सेसाणिं विलीयंते।। 356

नारकियों के शरीर कदलीघात (अकाल-मरण) के बिना पूर्ण आयु के अन्त में वायु से ताड़ित मेघों के सदृश सम्पूर्ण विलीन हो जाते हैं।

एवं बहुविह-दुक्खं, जीवा पावंति पुव्व-कद दोसा।
तद्दुक्खस्स सरूवं, को सक्कइ वण्णिदुं सयलं।। 357

इस प्रकार पूर्व में किये गये दोषों से जीव (नरकों में) नाना प्रकार के दुःख प्राप्त करते हैं, उस दुःख के सम्पूर्ण स्वरूप का वर्णन करने में कौन समर्थ है ?

III दुःखद पुण्य एवं उसके फल के कुछ उदाहरण

अचलिद संका केई, णणा-चरित्ते किलिट्ठ-भाव-जुदा।
भवणमरेसु आउं, बंधंति हु मिच्छ-भाव-जुदा।। 200

ज्ञान और चारित्र में दृढ शंका सहित, संक्लेश परिणामों वाले तथा मिथ्यात्व भाव से युक्त कोई (जीव) भवनवासी देवों सम्बन्धी आयु को बाँधते हैं।

सबल - चरित्ताकेई, उम्मग्गंथा णिदाणगद-भावा।
पावग-पहुदिम्हि मया, भावणवासीसु जम्मंते।। 201

शबल (दोषपूर्ण) चारित्र वाले, उन्मार्ग-गामी, निदान भावों से युक्त तथा पापों की प्रमुखता से सहित जीव भवनवासियों में उत्पन्न होते हैं।

अविणय-सत्ता केई, कामिणि-विरहज्जरेण जज्जरिदा।
कलहपिया पाविट्ठा, जांयते भवन - देवेसु ।। 202

कामिनी के विरहरूपी ज्वर से जर्जरित, कलहप्रिय और पापिष्ठ कितने ही अविनयी जीव भवनवासी देवों में उत्पन्न होते हैं।

सण्णि-असण्णि जीवा, मिच्छा-भावेन संजुदा केई।
जांयति भावणेसुं, दंसण-सुद्धा ण कइया वि।। 203

मिथ्यात्व भाव से संयुक्त कितने ही संज्ञी और असंज्ञी जीव भवनवासियों में उत्पन्न होते हैं, परन्तु विशुद्ध सम्यग्दृष्टि(जीव) इन देवों में कदापि उत्पन्न नहीं होते।

मरणे विरहिदम्हि य, केई कंदप्प - किब्बिसा देवा।
अभियोगा संमोह-प्पहुदी-सुर-दुग्गदीसु जायंते।। 204

(समाधि) मरण के विराधित करने पर कितने ही जीव कंदर्प, किल्विष, आभियोग्य और संमोह आदि देव-दुर्गतियों में उत्पन्न होते हैं।

कन्दर्प-देवों में उत्पत्ति के कारण

जे सच्च-वयण-हीणा, हस्सं कुव्वंति बहुजणे णियमा।
कंदप्प - रत्त-हिदया, ते कंदप्पेसु जायंति।। 205

जो सत्यवचन से रहित हैं, बहुजन में हँसी करते हैं और जिनका हृदय कामासक्त रहता है, वे निश्चय से कंदर्प देवों में उत्पन्न होते हैं।

वाहन-देवों में उत्पत्ति के कारण

जे भूदि-कम्म-मंताभिजोग-कोदूहलाइ-संजुत्ता ।
जण-वंचणे पयट्ठा, वाहण-देवेसु ते होंति।। 206

जो भूतिकर्म, मंत्राभियोग और कौतुहलादि से संयुक्त हैं तथा लोगों की वंचना करने में प्रवृत्त रहते हैं, वे वाहन देवों में उत्पन्न होते हैं।

किल्विष्क-देवों में उत्पत्ति के कारण

तित्थयर - संघ-पडिमा-आगम-गंथादिएसु पडिकुला।
दुव्विणया णिगदिल्ला, जायंते किब्बिस-सुरेसुं।। 207

तीर्थंकर, संघ, (जिन) प्रतिमा एवं आगम-ग्रंथादिक के विषय में प्रतिकूल, दुर्विनयी तथा प्रलाप करने वाले (जीव) किल्विष्क देवों में उत्पन्न होते हैं।

सम्मोह-देवों में उत्पत्ति के कारण

उप्पह-उवएसरा, विप्पडिवण्णा जिणिंद-मग्गम्मि।
मोहेणं संमूढा, सम्मोह-सुरेसु जायंते ।। 208

उत्पथ-कुमार्ग का उपदेश करनेवाले-जिनेन्द्रोपदिष्ट मार्ग के विरोधी और मोह से मुग्ध जीव संमोह जाति के देवों में उत्पन्न होते हैं।।

असुरों में उत्पन्न होने के कारण

जे-कोह-माण-माया-लोहासत्ता किलिट्ठ-चारित्ता ।
वइराणुबद्ध-रूचिणो, ते उप्पज्जंति असुरेसुं।। 209

जो क्रोध, मान, माया और लोभ में आसक्त हैं, दुश्चारित्र वाले (क्रूराचारी) तथा वैर-भाव में रुचि रखते हैं- वे असुरों में उत्पन्न होते हैं।।

विभंगज्ञान उत्पत्ति

देवी - देव-समूहं, दट्ठूणं तस्स विम्हओ होदि।
तक्काले उप्पज्जदि, विब्भंगं थोव-पच्चक्खं।। 216

उन देव-देवियों के समूह को देखकर उस नवजात देव को आश्चर्य होता है तथा उसी समय उसे प्रत्यक्षरूप अल्प विभंगज्ञान उत्पन्न होता है।

नवजात देव कृत पश्चाताप

माणुस्स-तेरिच्च-भवम्हि पुव्वे, लद्धो ण सम्मत्त-मणी पुरूवं।
तिलप्पमाणस्स सुहस्स कज्जे चत्तं मए काम-विमोहिदेण।। 217

मैंने पूर्वकाल में मनुष्य एवं तिर्यंच भव में सम्यक्त्वरूपी मणि को प्राप्त नहीं किया और यदि प्राप्त भी किया तो उसे काम से विमोहित होकर तिल प्रमाण अर्थात् किंचित् सुख के लिए छोड़ दिया।

जिणोवदिट्ठागम-भासणिज्जं, देसव्वदं गेण्हिय सोक्ख-हेदुं।
मुक्कं मए दुव्विसयत्थमप्पस्सोक्खाणो-रत्तेण विचेदणेण।। 218

जिनोपदिष्ट आगम में कथित वास्तविक सुख के निमित्तभूत देश चारित्र को ग्रहण करके मेरे जैसे मूर्ख ने अल्पसुख में अनुरक्त होकर दुष्ट विषयों के लिए उसे छोड़ दिया।

अणंत-णाणादि-चउक्क-हेदुं, णिव्वाण-बीजं जिणणाह-लिंगं।
पभूद-कालं धरिदूण चत्तं, मए मयंधेण बहू-णिमित्त।। 219

अनन्तज्ञानादि-चतुष्टय के कारणभूत और मुक्ति के बीजभूत जिनेन्द्रनाथ के लिंग (सकल चारित्र) को बहुत काल तक धारण करके मैंने मदान्ध होकर कामिनी के निमित्त छोड़ दिया।

कोहेण लोहेण भयंकरेण, माया पवंचेण समच्छरेण ।
माणेण वड्ढंत-महाविमोहो, मेल्लाविदोहं जिणणाह-लिंगं।। *220*

भयंकर क्रोध, लोभ और मात्सर्य भावसहित माया-प्रपंच एवं मान से वृद्धिंगत अज्ञानभाव को प्राप्त हुआ मैं जिनेन्द्र-लिंग को छोड़े रहा।

एदेहि दोसेहि सयंकिलेहिं, कादूण णिव्वाण' फलम्हि विग्घं।
तुच्छं फलं संपइ जादमेदं, एवं मणे वड्ढिद तिव्व-दुक्खं।। *221*

ऐसे दोषों तथा संक्लेशों के कारण, निर्वाण के फल में विघ्न डालकर मैंने यह तुच्छ फल (देव पर्याय) प्राप्त कर तीव्र दुःखों को बढा लिया है, मैं ऐसा मानता हूँ।

दुरंत - संसार-विणास-हेदुं, णिव्वाण - मग्गम्मि परं पदीवं।
गेण्हंति सम्मत्तमणंत-सोक्खं, संपादिणं छंडिय-मिच्छ-भावं। *222*

(वे देव उसी समय) मिथ्यात्व भाव को छोड़कर, तुरन्त संसार के विनाश के कारणभूत, निर्वाण मार्ग में परमप्रदीप, अनन्त सौख्य के संपादन करने वाले सम्यक्त्व को ग्रहण करते हैं।

तादो देवी- णिवहो, आणंदेणं महाविभूदीए।
सेसं भरंति ताणं, सम्मत्तग्गहण-तुट्ठाणं।। *223*

तब महा विभूतिरूप आनन्द के द्वारा देवियों के समूह और शेष देव, उन देवों के सम्यक्त्व-ग्रहण से संतुष्टि को प्राप्त होते हैं।

भवनवासियों में उत्पत्ति के कारण

जे केइ अण्णाण-तवेहि जुत्ता, णाणाविहुप्पाडिद-देह-दुक्खा।
घेत्तुण सण्णाण-तवं ति पावा, डज्झतिं जे दुव्विसयापसत्ता।। *252*
विसुद्ध - लेस्साहि सुराउ-बंध, काऊण कोहादिसु घादिदाऊ।
सम्मत्त-संपत्ति-विमुक्ख-बुद्धी, जायंति एदे भवणेसु सव्वे।। *253*

जो कोई अज्ञानतप से युक्त होकर शरीर में नाना प्रकार के कष्ट उत्पन्न करते हैं, तथा जो पापी सम्यग्ज्ञान से युक्त तप को ग्रहण करके भी दुष्ट विषयों में आसक्त होकर जला करते हैं, वे सब विशुद्ध लेश्याओं से पूर्व में देवायु बाँधकर पश्चात् क्रोधादि कषायों द्वारा उस आयु का घात करते हुए सम्यक्त्वरूप सम्पत्ति से मन हटाकर भवनवासियों में उत्पन्न होते हैं।

णिस्सेस - कम्मक्खवणक्कं - हेदु मण्णंतया तत्थ जिणिंद-पूजं।
सम्मत-जुत्ता विरयंति णिच्चं, देवा महाणंद-विसोहि-पुव्वं।। *339*
कुलाहिदेवा इव मण्णमाण, पुराण - देवाण पबोहणेण ।
मिच्छा-जुदा ते य जिणंद-पूज, भत्तीए णिच्चं णियमा कुणंति। *340*

अविरत-सम्यग्दृष्टि देव समस्त कर्मों के क्षय करने में एक अद्वितीय कारण जानकर नित्य ही महान् अनन्तगुणी विशुद्धिपूर्वक जिनेन्द्रदेव की पूजा करते हैं किंतु मिथ्यादृष्टि देव पुराने देवों के उपदेश से जिन प्रतिमाओं को कुलाधिदेवता मानकर किसी नियम से भक्तिपूर्वक जिनेन्द्रार्चन करते हैं।

अविसुद्धभावदोसा कसायवसगा य मंदसंवेगा।
अच्चासादणसीला मायाबहुला णिदाणकदा।। *1945 भ.आ.*

वे क्षपक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्ररूप परिणामों के जो शंकादि दोष हैं, उन्हें दूर नहीं करते हैं, कषायों के वशवर्ती होते हैं, उनका संवेग भाव मंद होता है, गुणों का और गुणीजनों का वे अपमान करते हैं तथा माया और निदानशल्य की उनमें प्रचुरता होती है।

सुहसादा किंमज्झा गुणसायी पावसुत्तपडिसेवी ।
विसयासापडिबद्धा गारवगरूया पमाइल्ला।। *1946*

वे सुखशील होते हैं, मुझे किसी से क्या, ऐसा मानकर वे संघ के सब कार्यों में अनादर भाव रखते हैं, सम्यग्दर्शन आदि गुणों में उनका उत्साह नहीं होता। अपने और दूसरों के अशुभ परिणाम को तथा मिथ्यात्व, असंयम और कषाय को बढानेवाला शास्त्र पाप सूत्र है। निमित्त शास्त्र, वैद्यक, कौटिल्यशास्त्र(राजनीति), स्त्री-पुरुष के लक्षण बतलानेवाला कामशास्त्र, धातुवाद(भौतिकी), काव्य-नाटक, कोशशास्त्र, शस्त्रों का लक्षण बतलाने वाला शास्त्र, प्रहार करने की विद्या, चित्रकला, गांधर्व (नाच गाना), गंधशास्त्र, युक्तिशास्त्र आदि पापशास्त्रों में उनका आदर होता है, उसी का वे अध्ययन करते हैं। इष्ट विषयों की आशा में लगे रहते हैं, तीन गारव में आसक्त होते हैं। विकथा आदि पंद्रह प्रमादों में युक्त होते हैं।

समिदीसु य गुत्तीसु य अभाविदा सीलसंजमगुणेसु।
परतत्तीसु य तत्ता अणाहिदा भावसुद्धिए।। *1947*

समिति, गुप्ति और शील तथा संयम के गुणों में भावना से रहित होते हैं। लौकिक कार्यों में संलग्न रहते हैं, भावों की शुद्धि की ओर ध्यान नहीं देते।

गंथअणियत्ततण्हा बहुमोहा सबलसेवणासेवी ।
सद्दरसरूवगंधे फासेसु य मुच्छिदा घडिदा।। *1948*

इनकी परिग्रह की तृष्णा कभी तृप्त नहीं होती। अज्ञान में डूबे रहते हैं। गृहस्थों के आरम्भ में फँसे होते हैं, शब्द, रस, रूप, गंध और स्पर्श में ममत्व भाव रखते हैं।

परलोगणिप्पिवासा इहलोगे चेवे जे सुपडिबद्धा ।
सज्झायादीसु य जे अणुट्ठिदा संकलिट्ठमदी।। *1949*

परलोक की चिंता नहीं करते, इसी लोकसंबंधी कार्यों में लगे रहते हैं। स्वा यायादि में उद्यम नहीं करते। इनकी मति संक्लेशमय होती है।

सव्वेसु य मूलुत्तरगुणेसु तह ते सदा अइचरंता।
ण लहंति खवोवसमं चरित्तमोहस्स कम्मस्स।। *1950*

सदा मूलगुणों और उत्तरगुणों में अतिचार लगाते हैं। इससे उनके चारित्र मोह का क्षयोपशम नहीं होता।

एवं मूढमदिय अवंतदोसा करेंति जे कालं।
ते देवदुब्भगतं मायामोसेण पावंति।। *1951*

इस प्रकार दोषों को दूर न करने वाले वे मूढ बुद्धि जब मरते हैं तो मायाचार के कारण अभागे देव होते हैं।

किंमज्झ निरूच्छाहा हवंति जे सव्वसंघकज्जेसु ।
ते देव समिदिवज्झा कप्पंते हुंति सुरमिच्छा।। *1952*

वे मुनि अवस्था में 'मुझे इससे क्या' ऐसा मानकर संघ के सब कार्यों में अनादर भाव रखने के कारण देवों की समिति से बहिष्कृत सौधर्मादि कल्पों के अन्त में बसने वाले चांडाल जाति के देव होते हैं।

कंदप्पभावणाए देवा कंदप्पिया मदा होंति ।
खिब्भिसयभावणाए कालगदा होंति खिब्भिसया।। *1953*

कन्दर्प भावना से मरकर कन्दर्प जाति के देव होते हैं। किल्विष भावना से मरकर किल्विष्क जाति के देव होते हैं।

अभिजोगभावणए कालगदा आभिजोगिया हुंति ।
तह आसुरीए जुत्ता हवंति देवा असुरकाया।। *1954*

आभियोग्य भावना से मरकर अभियोग्य जाति के देव होते हैं तथा आसुरी भावना से मरकर असुर जाति के देव होते हैं।

सम्मोहणाए कालं करित्तु दुंदुगा सुरा हुंति ।
अण्णंपि देवदुग्गइ उवयंति विराधया मरणे।। *1955*

सम्मोहन भावना से मरकर दुंदुग जाति के देव होते हैं। अन्य भी विराधना करके मरने वाले मुनि देवगति में हीन देव होते हैं।

इय जे विराधयित्ता मरणे असमाधिणा मरेज्जण्हू।
तं तेसि बालमरणं होइ फलं तस्स पुव्वुत्तं।। *1956*

इस प्रकर जो क्षपक मरते समय रत्नत्रय को नष्ट करके असमाधिपूर्वक मरते हैं उनका वह मरण बाल मरण होता है और उस बाल मरण का फल पूर्व

में कहा है।

जे सम्मत्तं खवया विराधयित्ता पुणे मरेज्जण्हू ।
ते भवणवासिजोदिसभेमेज्जा वा सुरा होंति।। *1957*

जो क्षपक सम्यक्त्व को नष्ट करके मरते हैं, वे मरकर भवनवासी, व्यंतर या ज्योतिषी देव होते हैं।

दंसणणाणविहूणा तदो चुदा दुक्खवेदणुम्मीए।
संसारमण्डलगदा भमंति भवसागरे मूढा।। *1958*

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से रहित वे मूढ देव स्वर्ग से च्युत होकर दुःख की वेदनारूपी लहरों से भरे संसार समुद्र में भ्रमण करते हैं।

असुरकुमार–देवों में उत्पन्न होने के कारण

पुव्वं बद्ध - सुराऊ, अणंतअणुबंधि - अण्णदर -उदया।
णासिय-ति-रयण-भावा-तिरिया केइ असुर-सुरा।। *350 ति.प.*

पूर्व में देवायु का बंध करने वाले कोई-कोई, मनुष्य और तिर्यंच अनन्तानुबंधी में से किसी एक का उदय आजाने से रत्नत्रय के भाव को नष्ट करके असुर-कुमार जाति के देव होते हैं।

सिकदाणणासिपत्ता, महबल-काला य साम-सबला हि।
रुद्दंबरिसा विलसिद-णामो महरुद्द-खर-णामा।। *351*
कालग्गिरुद्द-णामा, कुंभो वेतरणि-पहुदि-असुर-सुरा।
गंतुण वालुकंतं, णारइयाणं पकोपंति ।। *352*

सिकताानन, असिपत्र, महाबल, महाकाल, श्याम, सबल, रुद्र, अम्बरीष, विलसित, महारुद्र, महाखर, काल, अग्निरुद्र, कुम्भ और वैतरणी आदिक असुर-कुमार जाति के देव तीसरी बालुकाप्रभा नरक तक जाकर नारकी जीवों को कुपित करते हैं।

इह खेत्ते जह मणुवा, पेच्छंते मेस-महिस-जुद्धादि।
तह णिरये असुर-सुरा, णारय-कलहं पसुट्ठ-मणा।। *353*

इस क्षेत्र (मध्यलोक) में जैसे मनुष्य, मैढे और भैंसे आदि के युद्ध को देखते हैं, उसी प्रकार नरक में असुरकुमार जाति के देव नारकियों के युद्ध को देखते हैं और मन में सन्तुष्ट होते हैं।

7 साधुत्व - संबोधन !

हे साधकात्मन् ! प्रसिद्धि/प्रेय से मुक्त होकर सिद्धि/श्रेय से युक्त हो।

हे अनन्त, अक्षय, सुख-शान्ति, शक्ति, ज्ञान से पूर्ण विश्व के सर्वश्रेष्ठ वैभव सम्पन्न आत्मन् ! तू अनादि अनन्त काल से स्व-आत्म वैभव को भूलकर अशाश्वतिक भौतिक, कर्मजनित, विकृत, तुच्छ सत्ता, सम्पत्ति, विभूति, बुद्धि, क्षमता को अपना मानकर उस में रचा-पचा, अहंकार, ममकार किया। इससे तू अनन्त शारीरिक, मानसिक, संयोग-वियोग, हानि-लाभ, मान-अपमान रूपी दुःख भोगा। हे आत्मन्! अनन्त काल से जो अनन्त पंचपरिवर्तन किया उसमें तुमने विश्व के (1) प्रत्येक द्रव्य (प्रत्येक भौतिक वस्तु) (2) प्रत्येक क्षेत्र (विश्व के प्रदेश) (3) प्रत्येक काल (4) प्रत्येक भव (नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव) (5) प्रत्येक भव (असंख्यात लोक प्रमाण अशुभ भाव) में अनन्त बार जन्म-मरण करके अनन्त दुःख सहन किया है। इस पंचपरावर्तन में तुमने प्रत्येक भौतिक वस्तु का भोग-उपभोग करके त्याग करने से विश्व की संपूर्ण भौतिक वस्तु तुम्हारे ही उत्सर्जित-मल के साथ-साथ और भी अनन्त जीवों का उत्सर्जित-मल है। अतः तुम अभी सम्यक् विवेकी, आत्म- साधक साधु होकर इस स्व-पर-मल में आसक्त कैसे हो सकते हो ? इसी प्रकार प्रत्येक गति में, प्रत्येक जाति-प्रजाति में अनन्त बार जन्म लेकर विश्व के सभी जीवों के साथ तुम्हारा माता-पिता, भाई-बन्धु, कुटुम्ब, पति-पत्नी, शत्रु-मित्र आदि का सम्बन्ध हो चुका है, इसका भी अनुभव कर लिया है। हे समता के उपासक आत्मन् ! अभी ऐसे संसार के बंधन और संवर्धक सम्बन्ध से तुम्हारा क्या प्रयोजन है ? हे पवित्र आत्मन् ! भाव परिवर्तन में तुमने अनन्त बार क्रोध-मान-माया-लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, काम, मोह, क्षोभ आदि को सुना, किया, परिचित हुआ, अनुभव किया तथा दूसरों को जताया, बताया, प्रशिक्षण दिया है। अभी साधुत्व का लक्षण, कर्तव्य, साधन- साध्य, लक्ष्य है - "अभावियं भावेमि, भावियं ण भावेमि" अर्थात् अभी तक जो स्वात्मा के विशुद्ध परिणाम-गुणों के बारे में भावना नहीं भायी, उसके बारे में भाऊँगा और जो विपरीत, विकृत भावनाएँ भायी हैं उन्हें नहीं भाऊँगा। ये ही विशुद्ध भावना को भाना और पाना ही विश्व की सर्वश्रेष्ठ, सर्वज्येष्ठ उपलब्धि है तथा यह अभूतपूर्व कार्य, दुर्लभ, अद्वितीय है। यथा -

सुदपरिचिदाणुभुदा सव्वस्स वि कामभोग बन्ध कहा ।
एयत्तसुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।। *4 समयसार*

अर्थात् संपूर्ण काम, भोग, बन्ध की कथा श्रुत, परिचित, अनुभूत है।

इसलिए Practice makes a man perfect के अनुसार यह सब काम, क्रोधादि भाव/कार्य सुलभ है। प्रत्येक जीव इन कार्यों में आचार्य, विशेषज्ञ, मास्टर है परन्तु इससे विपरीत आत्मा के जो विशुद्ध भाव/कार्य यथा-रत्नत्रय, उत्तम क्षमादि दस धर्म, समता, पवित्रता, सहज-सरलता आदि सुलभ नहीं हैं। ये ही दुर्लभ, अमूल्य, अपूर्व भाव ही सुख-शान्ति, निर्जरा, मोक्ष, अनन्त, अक्षय, शाश्वतिक वैभव के कारण है।

अतएव हे आत्मन् ! भौतिक धन-सम्पत्ति, साधन, उपकरण, मन्दिर-मठ, गिरि, धर्मशाला-वसतिका, निषिधिका आदि द्रव्यात्मक निर्माण/प्रसिद्धि से मुक्त होकर भावात्मक आत्मनिर्माण/सिद्धि की प्रोजेक्ट/ कार्य योजना को क्रियान्वयन करो। इसी प्रकार हे आत्मन्! तुमने अनन्तबार जन्म ग्रहण किया जिसके कारण अनन्तबार ही मरना पडा। अतः ऐसे दुःखप्रद जन्म का महोत्सव कैसे ? अनन्त पंच परिवर्तन में अनन्त नाम, सम्बन्ध, परिचय, प्रसिद्धि, प्रचार-प्रसार, संचार हुआ है अतः जो प्रसिद्धि संसार की ही सिद्धि करने वाली है उसका प्रेम त्याग कर "सिद्धि स्वात्मोपलब्धि" रूपी श्रेय को वरण करो। ये ही यथार्थ से प्रभावना (प्र = भावना = प्रकृष्ट भावना) है। हे आत्मन्! "मुनिनामभवतिअलौकिकी वृत्तिः" अर्थात् भौतिक निर्माण से लेकर ख्याति, पूजा, प्रसिद्धि, पंथ, मत, वाद-विवाद, ईर्ष्या-द्वेष, तेरा-मेरा, संकल्प-विकल्प, संक्लेश, कषाय, वैरत्व, गुट-फूट आदि लौकिक/संसारी कार्य/वृत्ति से भिन्न आत्मख्याति, आत्मपूजा, आत्मध्यान, आत्म-विश्लेषण, आत्म-शोधन, आत्म-विकास तेरा परम कर्तव्य है। हे आत्मन्! केवल मुनिवेश धारण से, पिच्छी कमण्डलु धारण मात्र से, एक भुक्ति भोजन से, नित्य चलने से, केशलोंच से, बाह्य तपादि बाह्य क्रिया-काण्ड, रीति-रिवाज, पंथ, परम्परा, बाह्य प्रभावना मात्र ये कोई संवर, निर्जरा, मोक्ष को प्राप्त नहीं करते हैं। धवला सिद्धान्त ग्रन्थ, भगवती आराधना आदि मुनि आचरण संबंधी प्राचीन ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि भाव विशुद्ध, समता ,अन्तरंगतप, आत्म ध्यान आदि के बिना जीव ने इतनी बार मुनिव्रत धारण किया कि उसके यदि पिच्छी-कमण्डलु एक साथ में संग्रह किया जाए तो उसका ढेर सुमेरु के समान हो जाएगा ।

हे श्रेय मार्ग के पथिक मुमुक्षु! अधिकांश गृहस्थी लोग मुमुक्षु न होकर भुभुक्षु, वीतरागी न होकर वित्तरागी (संपत्ति प्रिय) आध्यत्मवादी न होकर भौतिकवादी, मोक्षपथी न होकर पंथवादी होने से वे जो कुछ सोचते हैं, कहते हैं, करते हैं, अनुमोदना करते हैं, वह सब उन भुभुक्षु आदि भाव से ही युक्त / प्रेरित

होते हैं। अतः उनके अनुसार सोचना / कार्य करना भी संसार वर्धक ही
अतएव यह भ्रान्त धारण को त्याग दो कि केवल एक बार सम्यग्दृष्टि होने मा
से या व्रती श्रावक, ब्रह्मचारी, क्षुल्लक, आर्यिका, मुनि, उपाध्याय, आचार्य बन
मात्र से श्रेष्ठ वैमानिक देव बन जाओगे या मोक्ष प्राप्त कर लोगे। एक भद्र मिथ्
दृष्टि सरल-सहज-शुभ लेश्या सम्पन्न मिथ्यालिंगी साधु-सन्त-तपस्वी या गृहस्
भी सामान्य वैमानिक देव तक में जन्म ग्रहण कर सकता है परन्तु सम्यग्दृष्टि
लेकर महाव्रती तक संक्लेश आदि परिणाम से उस भव में भी दुःखी, रोगी
अपमानित होता है और मरण के अनन्तर तद्-तद् भावानुसार भूत, प्रे
,असुरकुमार देव आदि देव दुर्गति से लेकर पशु आदि नीच गति में जन्म लेक
संसार में अनन्त भव प्रमाण अर्धपुद्गल परिवर्तन में परिभ्रमण करता
तिलोयपण्णति, मूलाचार, भगवती आराधना, धवला, जयधवला आदि ग्रन्थों में
उपर्युक्त वर्णन विस्तार से किया गया है। कुछ संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार से

सबल - चरित्ताकेई, उम्मग्गंथा णिदाणगद -भावा।
पावग-पहुदिम्हि मया, भवणवासीसु जम्मंते।। *201*

शबल (दोषपूर्ण) चारित्र वाले, उन्मार्ग-गामी, निदान भावों से युक्त त
पापों की प्रमुखता से सहित जीव भवनवासियों में उत्पन्न होते हैं।

कन्दर्प-देवों में उत्पत्ति के कारण

अविणय-सत्ता केई, कामिणि-विरहज्जरेण जज्जरिदा।
कलहपिया पाविट्ठा, जांयते भवन - देवेसु ।। *202*

कामिनी के विरहरूपी ज्वर से जर्जरित, कलहप्रिय और पापिष्ठ कितने
अविनयी जीव भवनवासी देवों में उत्पन्न होते हैं।

जे सच्च-वयण-हीणा, हस्सं कुव्वंति बहुजणे णियमा।
कंदप्प - रत्त-हिदया, ते कंदप्पेसु जायंति।। *205*

जो सत्यवचन से रहित हैं, बहुजन में हँसी करते हैं और जिनका ह
कामासक्त रहता है, वे निश्चय से कंदर्प देवों में उत्पन्न होते हैं।

किल्विष्क-देवों में उत्पत्ति के कारण

तित्थयर - संघ-पडिमा-आगम-गंथादिएसु पडिकुला।
दुव्विणया णिगदिल्ला, जायंते किब्बिस-सुरेसुं।। *207*

तीर्थंकर, संघ, (जिन) प्रतिमा एवं आगम-ग्रंथादिक के विषय में प्रतिकू
दुर्विनयी तथा प्रलाप करने वाले (जीव) किल्विष्क देवों में उत्पन्न होते हैं।

उत्पत्ति एवं पर्याप्ति वर्णन

उप्पज्जते भवणे, उववादपुरे महारिहे सयणे।
पावति छ पज्जति जादा अंतो-मुहुत्तेण।। *210*

(उक्त जीव) भवनवासियों के भवन के भीतर उपपादशाला में बहूमूल्य
शय्या पर उत्पन्न होते हैं और अन्तर्मुहूर्त में ही छह पर्याप्ति प्राप्त कर लेते हैं।

गंथअणियत्ततण्हा बहुमोहा सबलसेवणासेवी।
रादरसरूवगंधे फासेसु य मुच्छिदा घडिदा।। *1948 भ.आ.*

उनकी परिग्रह की तृष्णा कभी तृप्त नहीं होती। अज्ञान में डूबे रहते हैं।
गृहस्थों के आरम्भ में फँसे होते हैं, शब्द, रस, रूप, गंध और स्पर्श में ममत्व भाव
रखते हैं।

परलोगणिप्पिवासा इहलोगे चेवे जे सुपडिबद्धा।
सज्झायादीसु य जे अणुट्ठिदा संकलिट्ठमदी।। *1949*

जो परलोक की चिंता नहीं करते। इसी लोक संबंधी कार्यों में लगे रहते
हैं। स्वाध्याय आदि में उद्यम नहीं करते। इनकी मति संक्लेशमय होती है।

एवं मूढमदिया अवंतदोसा करेंति जे कालं।
ते देवदुब्भगतं मायामोसेण पावंति।। *1951*

इस प्रकार दोषों को दूर न करने वाले वे मूढ बुद्धि जब मरते हैं तो
मायाचार के कारण अभागे देव होते हैं।

दंसणणाणविहूणा तदो चुदा दुक्खवेदणुम्मीए।
संसारमण्डलगदा भमंति भवसागरे मूढा।। *1958*

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से रहित वे मूढ देव स्वर्ग से च्युत होकर दुःख
की वेदनारूपी लहरों से भरे संसार समुद्र में भ्रमण करते हैं।

हे आत्मन्! वर्तमान में हुण्डावसर्पिणी रूपी निकृष्ट काल के कारण उत्कृ
द्रव्य (उत्तम शरीर, भोजन, पानी, औषधि आदि), क्षेत्र (प्रदूषण से रहित देश,
ग्राम, नगर, निवासस्थान), काल (उत्तम चतुर्थ काल), भाव (उत्तम सरल-सहज
प्रशस्त भाव) के अभाव से भले उत्कृष्टतम बाह्य तपादि साधना नहीं हो पाती
है तो भी यथाशक्ति अन्तरंग साधना (समता, सरलता, क्षमादि भाव) को सतत
करना चाहिए और बढाना चाहिए। पूर्वाचार्यों ने कहा हैं -

दव्वं खेत्तं कालं भावं च सुट्ठु णादुणं।
झाणां अज्झयणं यदि धम्मं च समाचरउ।।

अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को सही रूप से जानकर ध्यान अध्ययन

आदि यति धर्म का सम्यक् आचरण करो।

जं सक्कइ तं कीरई जं च ण सक्कइ तं च सद्दहणं।

अर्थात् जो करने में समर्थ हो वह करो और जो करने में असमर्थ हो उसकी श्रद्धा करो इससे सम्यक्त्व भाव होता है।

हे आत्मन्! "शक्तितस्त्यागतपसी" के अनुसार शक्ति के अनुसार तप एवं त्याग करो जिससे संक्लेश न हो और धीरे-धीरे शक्ति/साधना/ अनुभव की वृद्धि से तप तथा त्याग में वृद्धि करो। प्रवचनसार, धवलादि महान् ग्रंथों में कहा गया है कि कर्म नष्ट करने के लिए भी यदि संक्लेश करते हैं तो कर्म तो नष्ट नहीं होता, परन्तु उल्टा कर्म बंध होता है। शास्त्रों में वर्णन पाया जाता है और अनुभव में आता है कि यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, शक्ति, शरीर की अवस्था, प्रकृति, बीमारी, आहार-विहारादि अन्तरंग-बहिरंग एवं विरोधी कारण के सद्भाव तथा अभाव को ध्यान में रखकर तप, त्याग, साधना, आहार - विहार, स्वाध्याय, समाधि, उपदेश, पंचकल्याणक, चातुर्मास, निवास नहीं करते हैं तो वात - पित्त - कफ-विकृति, शीत-उष्ण की बाधा, शारीरिक-मानसिक अत्याधिक श्रमादि के कारण अम्लपित्त, शारीरिक उष्णता, अल्सर, खांसी, जुकाम, निमोनिया, क्षयरोग(टी. बी.), सिरदर्द, शारीरिक-मानसिक- विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिससे सामान्य सुख-शान्ति में भी बाधा पहुँचती है। तप, त्याग, साधनादि के माध्यम से आत्मा में जो समता, विशुद्धि, पवित्रता, शान्ति आदि आत्मा के गुण प्रगट होते हैं उससे ही कर्म के संवर, निर्जरा, मोक्ष होते हैं न कि संक्लेश, कष्ट, अशान्ति, तनाव, आकुलता-व्याकुलता से। यथा - "आनन्दो निर्दहत्युद्ध कर्मेन्धनमानारतं" अर्थात् आत्मानन्द कर्मरूपी ईन्धन को प्रकृष्ट रूप से जलाता है। समतादि भावों का प्रादुर्भाव मोह, क्षोभादि के अभाव से होता है। अतः बाह्य तपादि से अन्तरंग विशुद्धि के कारण भूत कषायों को जीतने के लिए अधिक महत्व दिया है। यथा-

करोतु न चिरं घोरं तपः क्लेशासहो भवान् ।
चित्तसाध्यान् कषायारीन्न जयेद्यत्त्वज्ञता।। आत्मानुशासन

हे भवान्! यदि कष्ट साध्य घोर तप को नहीं कर पाते हो तथापि यदि चित्त से साधन योग्य कषाय रूपी शत्रु को नहीं जीत पाते हो तो यह तुम्हारी अज्ञानता है।

I *पंचमकाल में भावमुनियों का सद्भाव*

हे छद्मस्थ आत्मन् ! स्व-अवचेतन संतुष्टि के लिए या दूसरों को ठगने के लिए यह भी न सोचे और न कहें कि वर्तमान में कौन सच्चे साधु बन सकते

हैं ? कौन कठोर साधना कर सकते हैं ? यथा-

संकाकंखा गहिया विसय वसत्था सुमग्गयब्भट्ठा।
एवं भणंति केई ण हु कालो होइ झाणस्स।। *14 // तत्त्वसार*

संदेहशील, विषय सुख के प्रेमी, भोगों में आसक्त एवं विषय भोगों में अपना हित मानने वाले जिनेन्द्रप्रणीत रत्नत्रयरूपी सुमार्ग से भ्रष्ट कितने ही इस प्रकार कहते हैं कि वर्तमान पंचमकाल ध्यान योग्य काल नहीं है, इस काल में मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है तो मुनि होकर क्या करना है। पूर्वोक्त समस्त प्रश्नों का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं-

अज्जवि तिरयणवंता अप्पा झाऊन जंति सुरलोयं।
तत्थ चुया मणुयत्ते उप्पज्जिय लहहि णिव्वाणं।। *15*

आज भी इस पंचमकाल में रत्नत्रयधारी मुनि आत्मा का ध्यान कर स्वर्ग लोक को जा सकते हैं, वहाँ से च्युत होकर उत्तम मानव कुल में जन्म लेकर मुनि होकर निर्वाण की प्राप्ति कर सकते हैं।

मुनि निवास

कलौःकाले वने वासो वर्जनीयो मुनीश्वरेः।
स्थीयते च जिनागारे ग्रामादिषु विशेषतः।।(इन्द्रनंदी नीतिसार)

कलिकाल में मुनीश्वरों को वनवास छोडने योग्य है। विशेषतः जिनमंदिर, ग्रामादिक में रहना चाहिए।

कुन्दकुन्दाचार्य मोक्ष पाहुड में कहते हैं :-

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं, हवेइ साहुस्स।
तं अप्पसहाव ठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी।। *76*
अज्ज वि तिरयण सुद्धा अप्पा झाए वि लहइ इदंव्वं।
लोयंतियं दवत्त तत्थं चुआ णिव्वुदिं जंति ।। *77*

भरत क्षेत्र में दुःषमाकाल में मुनियों को धर्मध्यान होता है, वे धर्मध्यान के माध्यम से आत्मा में स्थिर रहते हैं, जो इस प्रकार नहीं मानता है वह भी अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है।

अभी भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र से शुद्ध मुनि आत्म ध्यान कर इन्द्रत्व एवं लौकान्तिक देव होते हैं, वहाँ से च्युत होकर उत्तम मानवपर्याय को प्राप्त कर मुनि होकर परम निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

शंका :-वर्तमान काल में मुनियों को शुक्लध्यान नहीं होता है तो क्या चारित्र भी नहीं हो सकता है।"वीतरागी चारित्राभाव कथंगौणत्वमित्याशंकाहः"

समाधान :- माइल्ल धवल "द्रव्य स्वभाव प्रकाशक" में इसका निर्णय करते हैं।

मज्झिम जहाणुक्कस्सा सराग इव वीयराय सागग्गी ।
तम्हा सुद्धचरितं पंचमकाले वि देसदो अत्थि।। *344*

"द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नयचक्र"

जिस प्रकार सरागदशा के भी जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद होते हैं, अत एकदेश वीतरागी चारित्र पंचमकाल में भी होता है ।

श्री नागसेन मुनि भी कहते हैं:-

अत्रेदानींषेधंति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः।
धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणीभ्यां प्राग्विवर्तिनां।। *83 //*
यत्पुनः वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः ।
श्रेण्यो ध्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नाधस्तन्निषेधकं ।। *84 //*
ध्यातारश्चेन्न सन्त्यद्यश्रुत सागरपारगाः।
तत्किमल्पश्रुतैर्न ध्यातव्यं स्वशक्तितः।। *85 //*
चरितारोन चेत्सन्ति यथाखयातस्य संप्रति।
तत्किमन्ये यथाशक्तिमाचरन्तु तपस्वितः।। *86 //*
समग्गुरूपदेशेन समभ्यस्यन्नारतं ।
धारणासौष्ट वादृध्यानं प्रत्ययानपि पश्यति।। *87 //*
यथाअभ्यासेन शास्त्राणि स्थिराणिस्युर्महान्त्यपि।
तथा ध्यानमपि स्थैर्य लभन्तऽअभ्यासवर्तिनां। *88 //*

श्री जिनेन्द्र भगवान् ने इस पंचमकाल में यहाँ पर भरत क्षेत्र में शुक्लध्यान का अभाव बताया है। उपशम क्षपक श्रेणी से नीचे रहने वालों को धर्मध्यान होना बताया है। वज्रकायधारी उत्तम संहननवालों को जो ध्यान आगम में कहा है वह श्रेणी की अपेक्षा से कहा है। अधस्तन ध्यान निषेध नहीं है। यद्यपि वर्तमान में श्रुतकेवली समान ध्यानी मुनी नहीं हो सकते हैं, तो भी क्या अल्पश्रुत ज्ञाताओं को अपनी शक्ति के अनुसार ध्यान नहीं करना चाहिए ? अर्थात् अवश्य करना चाहिए। तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया है "शक्तितस्त्यागतपसी" शक्ति के अनुसार त्याग और शक्ति के अनुसार तपस्या करनी चाहिए। वर्तमान काल में यथाख्यातचारित्र के आचरण करने वाले नहीं हो सकते हैं तो क्या तपस्वियों को यथाशक्ति सामायिक, छेदोपस्थापनादि सरागचारित्र नहीं पालन करना चाहिए ? अर्थात् अवश्य ही पालन करना चाहिए। जो साधक भलीप्रकार गुरूपदेश से भली प्रकार आध्यात्मिक अभ्यास निरन्तर करता रहेगा, तो उसकी धारणा उत्तम हो जाएगी

तो वह अनेक चमत्कारों को भी देख सकेगा। जैसे बडे-बडे शास्त्र भी आभ्यास के बल से समझने में आते हैं उसी प्रकार अभ्यास करने वालों का ध्यान भी स्थिर हो जाता है। इसलिए पंचमकाल में भी यथ्ससशक्ति प्रमाद रहित होकर काम, भोग, पंचेन्द्रियों के विषयों से, स्त्री, कुटुम्ब, व्यापारादि से विरक्त होकर ख्याति, पूजा, लाभादि से रहित होकर धर्म-ध्यानपूर्वक आत्मध्यान करना चाहिए। इससे पाप कर्मों का संवर, निर्जरा होगी। निरिच्छक सातिशय पुण्य बंध होगा, जिससे परम्परा से स्वर्ग, मोक्ष की प्राप्ति होगी। जैसे करोडपति, अरबपति स्वमूल धन के अनुसार व्यापार करते हैं, उसी प्रकार साधारण व्यक्ति भी स्वशक्ति के अनुसार व्यापार करता है। अधिक धन नहीं रहनेपर निरुद्यम होकर बैठा नहीं रहता है, यदि बैठा रहेगा तो पेटपोषण भी नहीं हो पायेगा, श्रीमंत होने की बात तो दूर रही। इसी प्रकार पंचम काल में स्वशक्ति अनुसार श्रावक दान, पूजा, शील, व्रत, उपवासादि जघन्य देशचारित्र पालन भी नहीं करेंगे तो पाप संचय के कारण नरक, निगोद ही मिलेगा, संसार वृद्धि होगी, मोक्ष तो अत्यन्त दूर की बात है, सुस्वर्ग की भी प्राप्ति नहीं होगी।

॥ *पंचमकाल में मुनियों की एक वर्ष की तपस्या चतुर्थ काल में एक हजार वर्ष के समान है :-*

हे आत्मन् ! इस अत्यन्त विपरीत हुण्डावसर्पिणी रूप इस पंचम काल में अत्यन्त दुर्द्धर महाव्रतादि धारण कर अत्यन्त भौतिक भोग विलास रूपी वातावरण में विचरण करना लोहे के चने चबाने के समान है। यह कोई बच्चों का खेल नहीं है, अथवा बहुरूपियों का खेल नहीं है, वाग्विलास नहीं है। वातानुकूल (एयर कंडीशन्ड) कमरे में बैठकर स्वानुकूल (स्वयं के अनुकूल) बात, आध्यात्मिक, शुष्क बौद्धिक चर्चा नहीं है। जो धीर, वीर हैं वहीं पंचमकाल में जिनेन्द्र भगवान् के निर्ग्रंथ लिंग को धारण कर सकता है।

सहणणं अइणीचं कालो सो दुस्समो मणो चवलो।
तह विहु धीरा पुरिसा महव्वयभर धरण उच्छहिया। *130* भा.सं
वरिस सहस्सेण पुरा जं कम्मं हणह तेण काएण।
तं संवइ वरिसेण हु णिज्जरयइ हीण संहणणे।। *131*

इस पंचमकाल में संहनन अत्यन्त हीन है, काल अत्यन्त दुःषम है, मन अत्यन्त चंचल है, तथापि जो धीर-वीर पुरुष महाव्रतरूपी महाभार को धारण करने के लिए उत्साहित है, वह महान् प्रशंसनीय, वंदनीय, पूजनीय है।

चतुर्थ काल में जिस उ त्तम संहनन युक्त शरीर के माध्यम से तपश्चरण द्वारा जो कर्म एक हजार वर्ष में नष्ट होता था, उतना ही कर्म वर्तमान दुःषम काल में हीन संहनन युक्त हीन शरीर से एक वर्ष के तपश्चरण द्वारा नष्ट होता है। इससे सिद्ध होता है, चतुर्थ काल अपेक्षा पंचम काल में मुनिव्रत धारण, पालन, तपश्चरण आदि एक हजार गुणा दुश्कर है। निर्ग्रन्थ रूप की दुर्द्धरता के लिए आचार्य जिनसेन स्वामी आदिपुराण में लिखते है :-

अश्यक्य धारणं चेदं जंतुनां कातरात्मनाम्।
जैनं निस्संगता मुख्यं रूपं धीरैः निषेव्यते।।

जिसमें यथाजात रूप अन्तरंग बहिरंग ग्रन्थ रहितता मुख्य है ऐसा निर्ग्रन्थलिंग उसी प्रकार दुर्द्धर, दुरासाध्य, अत्यन्त कठिन रूप को कातर, कायर, मन एवं इंद्रियों के दास, भोगों के कीडों के द्वारा धारण करना अत्यन्त अशक्य है। जो धीर, वीर, गंभीर, दमी, यमी होते हैं उनके द्वारा ही निर्ग्रन्थ लिंग धारण किया जा सकता है। जैसे चक्रवर्ती के चक्र को कायर पुरुष प्रयोग नहीं कर सकता, केवल वीर पुरुष पुण्यात्मा पुरुष धारण कर सकता है, उसी प्रकार इस निर्ग्रन्थ रूप को धीर वीर एवं पुण्यात्मा पुरुष धारण कर सकते हैं।

अन्तर विषय वासना वरतैं बाहर लोक लाज भय भारी।
यातै परम दिगम्बर मुद्रा धर नहिं सकै दीन संसारी।।
ऐसी दुर्धर नगन परिषह जीतै साधु शील व्रतधारी ।
निर्विकार बालकवत् निर्भय तिनके चरणों धोक हमारी । 7

हे अन्तरात्मन् ! तुमने अनन्त दुःख के कारण मूलभूत बहिरात्मपना को त्यागकर परमात्मपना के साधकस्वरूप परम पवित्र, सर्वश्रेष्ठ, समतारूप, सत्य-अहिंसा-अपरिग्रह-ब्रह्मचर्य-रत्नत्रय दस धर्म के जीवन्त /प्रयोगिक रूप जो साधुत्व को प्राप्त किया है उसमें मनसा-वचसा-कर्मणा एकनिष्ठ होकर समस्त कल्याण के मूलभूत आत्मकल्याण में सतत, समग्रता से प्रयत्न करो क्योंकि ये ही एक कार्य है जो कि तुमने अनन्त काल से अनन्त जन्म में भी नहीं किया है। इसके अतिरिक्त और समस्त कार्य यथा- जन्म -मरण, भोग-उपभोग- शत्रुता-मित्रता, युद्ध-कलह, मान-अपमान, मरना-मारना ,सत्ता-सम्पत्ति, प्रसिद्धि-बुद्धि, वैभव, राज-पाट, अमीरी-गरीबी, रोग-शोक, भय-उद्वेग, क्लेश-संक्लेश, तनाव-उदास आदि समस्त कार्य अवस्थाओं को तुमने किया, करवाया, अनुभव किया है। इन सब कार्यों से तुमने अनन्तज दुःख भी भोगे हैं अतः एव हे सुखेच्छु, संवेग-वैराग्य युक्त आत्मन् ! अभी तो कम से कम एक बार भी स्वयं के लिए मरकर भी देखो

कि स्वयं के लिए मरण से तुम कैसे अमृत बन जाते हो, अजर-अमर, शाश्वतिक "सच्चिदानंद" "सत्यं शिवं सुंदरम्" बन जाते हो। यथा :-

अयि कथमपि मृत्वा तत्वाकौतूहली सन् अनुभव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्। पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन त्यजसि झगति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्।। अमृत कलश

हे शान्ति के इच्छुक आत्मन् ! तत्त्व कौतुहल आदि किसी भी प्रकार से मरकर भी स्व-विज्ञानघनस्वरूप आत्म तत्त्व को मोह, माया, शोक-दुःख से मुहूर्तमात्र के लिए अलग अनुभव करो और जब ऐसा अनुभव करो तो तत्काल स्वशुद्धात्मा से भिन्न भौतिक/अनात्म/विकारभूत मोहादि को हठात् त्याग कर दो। इससे तुम निर्मल/पवित्र आनन्द घनस्वरूप हो जाओगे।

विरम किमपरेणकार्यकोलाहलेन स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्। हृदयसरसि पुंसः पुद्गलदिभन्नधाम्नो ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धि।।

हे आत्मन् ! संसार के अकार्य कोलाहल से विराम लो। स्वयं ही समस्त संकल्प-विकल्पों से अवकाश प्राप्त करके स्व-आत्मस्वरूप का अवलोकन/अनुभव करो। तब स्वयं को अनुभव हो जाएगा कि तुम्हारा चैतन्य शुद्ध-स्वरूप समस्त भौतिक स्वरूप से भिन्न है या नहीं ? अर्थात् निश्चय से भिन्न है।

अतएव हे आत्मन् ! आत्मविश्वास, आत्मज्ञान, आत्म अनुसंधान, आत्म परीक्षण-निरीक्षण, आत्म विश्लेषण, आत्मानुचरण से ही स्वात्मोपलब्धि रूप सुख-शान्ति, संवर, निर्जरा, मोक्ष प्राप्त किया जाता है। अन्य सब धार्मिक क्रिया-काण्ड, व्रत-नियम-उपनियम, तप-त्याग, परीषह-उपसर्ग सहन, पूजा-पाठ, जप-तप, मंत्र-ध्यान आदि इसके लिए साधन/निमित्त/कारण/उपाय हैं।

हे साधकात्मन् ! तुम्हारा निज आत्म वैभव अक्षय अनन्त है। वर्तमान पंचमकाल के समस्त देश-विदेश के सामान्य जन से लेकर उद्योगपति, प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति, वैज्ञानिक, साधु-संत के वैभव सीमित हैं, क्षायोपशमिक, कर्म सापेक्ष हैं। अतएव आत्म वैभव की अपेक्षा वर्तमान के स्व-पर के वैभव अत्यन्त तुच्छ हैं/हेय हैं, इसलिए वर्तमान के स्व-पर वैभव से न राग करो, न ईर्ष्या करो, न अहंभाव करो, न दीनभाव करो। जो कुछ तुम्हारी वर्तमान की उपलब्धि है उसका सतत सदुपयोग निज आत्म वैभव की उपलब्धि के लिए ही करो। वर्तमान की उपलब्धि का उपयोग ख्याति, पूजा, लाभ, प्रसिद्धि, संक्लेश-तनाव, ईर्ष्या-द्वेष, लन्द-फन्द में करके इह-परलोक में दुःखी मत हो। शास्त्रों में वर्णन पाया जाता है कि प्राचीनकाल के तीर्थंकर, गणधर आदि चार ज्ञान एवं चौसठ ऋद्धियों के स्वामी

होते हुए भी उन सब का उपयोग ख्याति, पूजा, प्रसिद्धि या यहाँ तक कि उनके ऊपर उपसर्ग-परीषह करने वालों के निवारण के लिए नहीं किया क्योंकि ऐसा करने से उपलब्धि का (1) सम्यक् सदुपयोग नहीं होता (2) प्राप्त उपलब्धि में मन्दता आती है (3) आत्मोत्थ अक्षय उपलब्धि में बाधा होती है। अतः हे आत्मन् ! "वन्दे तद्गुण लब्धये" के अनुसार तुम्हारी पंचपरमेष्ठी में जो पूजा/भक्ति/प्रार्थना तब यथार्थ होगी जब तुम उनके गुणों को स्वीकार करोगे क्योंकि गुणानुस्मरण, गुणानुवादन तथा गुणानुकरण ही यथार्थ भक्ति है, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र है। हे आत्मन् "आदहिदं कादव्वं यदि चेत् परहिदं कादवं, आदहिदं परहिदादा आदहिदं सुट्ठू कादव्वं।। उत्तमा स्वात्मचिंतास्यान्मोहाचिन्ता च मध्यमा, अधमा कामचिन्ता स्यात् परचिंताऽधमाधमा।।" अर्थात् जिस प्रकार दीपक स्वयं पहले प्रकाशित होकर दूसरों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार तुम स्वयं स्वउपकार करते हुए परोपकार करो। इसके बिना अन्य समस्त प्रपंच, ढोंग-पाखण्ड, संक्लेश त्याग करो।

III *सिद्धि एवं श्रेय मार्ग*

कुबोध रागादि विचेष्टितैः फलं, त्वयाऽपि भूयोजननादि लक्षणम्।
प्रतीहि भव्य प्रतीलोम वर्तिभि, ध्रुवं फलं प्राप्स्यसि तद्विलक्षणम्।।

106 आत्मानुशासनम्

हे भव्य ! तूने बार-बार मिथ्यात्व, अज्ञान एवं राग द्वेषादि जनित प्रवृत्तियों से जो जन्म-मरणादि रूप फल प्राप्त किया है उसके विरूद्ध प्रवृत्तियों सम्यग्ज्ञान एवं वैराग्य जनित आचरणों के द्वारा तू निश्चय से उसके विपरीत फल अजर-अमर पद को प्राप्त करेगा, ऐसा निश्चय कर।

दयादमत्याग समाधि संततेः पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान्।
नयत्यवश्यं वचसामनगोचर, विकल्पदूरं परमं किमप्यसौ।। *10*

हे भव्य ! तू प्रयत्न करके सरल भाव से दया, इंद्रिय दमन, दान और ध्यान की परंपरा के मार्ग में प्रवृत्त हो जा। वह मार्ग निश्चय से किसी ऐसे उत्कृष्ट पद को प्राप्त कराता है जो वचन से अनिर्वचनीय एवं समस्त विकल्पों से रहित है।

दया-दम-त्याग-समाधि निष्ठम् नय प्रमाण प्रकृताङ्ञ्सा ऽर्थम्।
अधृत्यमन्यैरखिलैः प्रवादैः, जिन! त्वदियं मतद्वितीयम्। *6*

युक्त्यानुशासनम्

हे वीर जिन ! आपका यह अनेकान्त रूप शासन अद्वितीय है। इसमें

दया, दम, त्याग और समाधि में तपाता है। नयों एवं प्रमाणों द्वारा इसमें द्रव्य गुण स्वरूप जीवादिक तत्त्वों का अविरोध रूप से, सुनिश्चित असंभव बोधकरूप से निर्णय किया गया है एवं इसमें समस्त एकान्त प्रवादों दर्शनमोहनीय के उदय से सर्वथा एकान्तवादियों की कल्पित मान्यताओं द्वारा किसी भी प्रकार की बाधा नहीं आ सकती है।।

हे आत्मन् ! मोक्ष प्राप्ति का पूर्ण अद्वितीय मार्ग रत्नत्रय ही है।। अनन्त अनंतदर्शियों ने इस मार्ग पर चलते हुए मोक्ष को प्राप्त किया है। वे अनंतज्ञान को प्राप्त करके पूर्णरूप प्रत्यक्ष से अनुभव करके रत्नत्रयात्मक मार्ग को ही यथार्थ मार्ग और इससे अतिरिक्त कुमार्ग, दुःख का मार्ग एवं संसार का मार्ग कहा है। आचार्यप्रवर समंतभद्र स्वामी ने कहा भी है :-

सदृष्टिज्ञान वृत्तानि धर्म धर्मेश्वरा विदुः।
यदिय प्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धति।। *3*

सद्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र ही धर्म है, मोक्ष का मार्ग है, इससे विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं कुचारित्र ही कुधर्म है, दुःख का मार्ग है, संसार का मार्ग है, ऐसा धर्म के ज्ञाता धर्म के प्रभु ने बताया है। आचार्य उमास्वामी भी मोक्ष प्रतिपादक शास्त्र का प्रतिपादन करते हुए प्रथम पंक्ति में बताते हैं कि :-

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः।। "तत्त्वार्थ सूत्र"

Right belief, Right knowledge, Right conduct, these (Together conritbute) the path to liberation.

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, एवं सम्यक्चारित्र इन तीनों का सम्यक् संयोग रूप त्रयात्मक मोक्ष का मार्ग है।

"Self reverence, self knowledge and self control, these three alone lead life to sovereign power."

हे मुनेः ! आध्यात्मिक दर्शन के समर्थ प्रचार प्रसारक कुन्दकुन्दस्वामी आध्यात्मिक जगत् की अद्वितीय कृति समयसार में भी विमुक्ति मार्ग का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं :-

जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।
रागादीपरिहरणं चरणं ऐसा दु मोक्खपहो।। *162*।। समयसार
एसो दु मोक्ख पहो इत्येव व्यवहार मोक्ष मार्गः।

यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

रागादी परिहरणं चरणं - तेषामेव सम्बन्धित्वेन रागादि परिहारश्चरित्रं।

रागादी परिहरणं चरणं और उन्हीं के सम्बन्ध से होने वाले जो रागादिक विभाव होते हैं उनको दूर हटा देना सो सम्यक्चारित्र कहलाता है। हाँ, भूतार्थनय के द्वारा जाने हुए उन्हीं जीवादि पदार्थों को अपनी शुद्धात्मा से पृथक् रूप में ठीक-ठीक अवलोकन करना निश्चयसम्यग्दर्शन कहलाता है और उन्हीं जीवादि पदार्थों को अपनी शुद्धात्मा से पृथक् रूप में जानना सो निश्चयसम्यग्ज्ञान है और उनको शुद्धात्मा से भिन्न जानकर रागादिरूप विकल्प से रहित होते हुए अपनी शुद्धात्मा में अवस्थित होकर रहना, निश्चय सम्यक् चारित्र है, इस प्रकार यह निश्चय मोक्ष मार्ग है। हे भव्य! नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव द्रव्यसंग्रह में निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग का वर्णन करते हुए निम्न प्रकार बताते हैं :-

सम्मद्दंसण णाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।
ववहार णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा।। *39*

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों के समुदाय को व्यवहार से मोक्ष का कारण मानो तथा निश्चय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चारित्र स्वरूप जो निज आत्मा है, उनको मोक्ष का कारण मानो।

रत्नत्रय व्यवहार मोक्षमार्ग है। निश्चय से रत्नत्रय रूप परिणित आत्मा ही मोक्षमार्ग है। स्वयं आत्मा ही निश्चय से मोक्षमार्ग किस प्रकार का होता है? इसका प्रति उत्तर देते हुए आचार्य श्री ने कहा है-

रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवि यम्हि।
तम्हा तत्तियमइयो होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा।। *40 //*

आत्मा को छोडकर अन्य द्रव्य में रत्नत्रय नहीं रहता, इस कारण उस रत्नत्रयमयी जो आत्मा है, वही निश्चय से मोक्ष का कारण है।

कुन्दकुन्दस्वामी भी यह भेदा-भेदात्माक निश्चय-व्यवहारात्मक मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं :-

दंसण णाण चरित्ताणी सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो।। *5 //*

साधु को व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों को भिन्न-भिन्न समझकर नित्य-सदा ही इनकी उपासना करनी चाहिए, अपने उपयोग में लाना चाहिए, किंतु शुद्ध निश्चयनय से वे तीनों एक शुद्धात्मस्वरूप हैं, उससे भिन्न नहीं हैं ऐसा समझ लेना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि पंचेंन्द्रियों के विषय और क्रोधादि कषायों से रहित जो निर्विकल्प समाधि है उसमें ही सम्यग्दर्शन,

सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों होते हैं।

णिज्जावगो ये णाणं वादो झाणं चरित्त णावा हि।
भवसागरं तु भविया तरंति तिहि सण्णिवायेण।। *900 //*

खेवटिया ज्ञान है, वायु ध्यान है, और नौका चारित्र है। इनके संयोग से ही भव्य जीव भवसागर से तिर जाते हैं।

णाणं पयासओ तओ सोधयो संजयो य गुत्तियरो।
तिण्हंपि य संपजोगे होदि हु जिण सासणे मोक्खे।। *901 //*

ज्ञान प्रकाशक है, तप शोधक है और संयम रक्षक है इन तीनों के संयोग से ही अर्थात् मिलने पर ही जिनशासन में मोक्ष प्राप्ति होती है।

तवेण धीरा विधुणंति पावं अज्झप्पजोगेण खावंति मोहं।
संखीण छुदरागा दोसा उत्तमा सिद्धिगदिं पयांति।। *903 //*

धीर मुनि तप से पाप नष्ट करते हैं, अध्यात्म योग से मोह का क्षय करते हैं अतः वे उत्तम पुरुष मोह रहित और राग-द्वेष रहित होते हुए सिद्ध गति प्राप्त कर लेते हैं।

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यज।
क्षमार्ज्जवदयातोषं सत्यं पियूषवद् भज। सू. २ अष्टावक्रगीता

हे प्रिय ! यदि तू मुक्ति चाहता है तो विषयों को विष के समान छोड दे और क्षमा, आर्जव, दया, संतोष और सत्य को अमृत के समान सेवन कर।

एको विशुद्ध बोधव्योऽहमिति निश्चयवह्निना।
प्रज्वाल्याज्ञानगहनं वीतशोकः सुखी भव।। *सूत्र 9*

'मैं एक विशुद्ध बोध हूँ' ऐसी निश्चयरूपी अग्नि से गहन अज्ञान को जलाकर तू शोकरहित हुआ सुखी हो।

निरपेक्षो निर्विकारो निर्भरः शीतलाशयः ।
अगाधबुद्धिरब्धो भव चिन्मात्रवासनः।। सूत्र *17*

"तू निरपेक्ष है, निर्विकार है, स्व निर्भर है, शान्ति और मुक्ति का स्थान है, अगाध बुद्धिरूप है, क्षोभ-शून्य है। अतः चैतन्य मात्र में निष्ठा वाला हो।"

समदुःखसुखपूर्ण आशानैराश्ययोः समः ।
समजीवित मृत्युः सन्नेवमेव लयं व्रज।। सूत्र *4*

"दुःख और सुख जिसके लिए समान हैं, जो पूर्ण है, जो आशा और निराशा में समान है, जीवन और मृत्यु में समान है, ऐसा होकर तू मोक्ष को प्राप्त हो।" सारस्वरूप से हे आत्मन् ! सांसारिक सुख-दुःख, मान-अपमानादि तेरा शुद्ध

स्वरूप नहीं होने के कारण इससे प्रभावित होने पर दुःखदायी कर्म संचय होते है। तथा आत्म ज्ञान, आत्म ध्यान, समता, आत्म-लीनता, क्षमादि भाव तेरा शुद्ध स्वरूप होने से इसके कर्म नष्ट होते हैं, जिससे अक्षय सुख शान्ति मिलती है।

णाणं दोसे णासिदि णरस्य इंदियकसायविजयेण।
आउहरणं पहरणं जह णासेदि अरिं ससत्तस्स।। *1331 // म.आ.*

इन्द्रिय और कषाय को जीतने से ज्ञान मनुष्य के दोषों को नष्ट करता है जैसे सत्वशालिका आयु को हरने वाला शस्त्र शत्रु को नष्ट करता है।

णाणंपि कुणदि दोसे णरस्य इंदियकसायदोसेण।
आहारो वि हु पाणो णरस्य विससंजुदो हरदि।। *1332*

इन्द्रिय और कषायरूप परिणामों के दोष से ज्ञान भी मनुष्यों में दोष उत्पन्न करता है। दूसरे के संसर्ग से उपकारी भी अनुपकारी हो जाता है। जैसे आहार प्राण धारण में निमित्त है किंतु विष से मिला आहार प्राणों का घातक होता है।

णाणं करेदि पुरिसस्स गुणे इंदियकसायविजयेण।
बलरूववण्णमाऊ करेहि जुत्तो जघाहारो।। *1333*

और इंद्रिय कषायों को जीतने से ज्ञान पुरुष में गुण उत्पन्न करता है। जैसे विष से रहित आहार बल, रूप, तेज और आयु को बढाता है।

णाणं पि गुणे णासेदि णरस्स इंदियकसायदोसेण।
अप्पवघाए सत्थं होदि हु कापुरिसहत्थगयं।। *1334*

इंद्रिय और कषाय रूप परिणामों के दोष से ज्ञान भी पुरुष के गुणों को नष्ट करता है। जैसे कायर पुरुष के हाथ में गया शस्त्र उसके ही वध में निमित्त होता है।

सबहुस्सुदो वि अवमाणिज्जादि इंदिसकसायदोसेण।
णरमाऊधहत्थंपि हु मदयं गिद्धा परिभवंति।। *1335*

इंद्रिय और कषायों के दोष से अच्छे प्रकार से बहुत से शास्त्रों का ज्ञाता भी, विद्वान भी अपमान का पात्र होता है। जैसे शस्त्र हाथ में होते हुए भी मरे मनुष्यों को गिद्ध खा जाते हैं।

इंदियकसायवसगो बहुस्सुदो वि चरणे ण उज्जमदि।
पक्खीव छिण्णपक्खो ण उप्पडदि इच्छमाणो।। *1336*

इंद्रिय और कषाय के वश में हुआ बहुश्रुत विद्वान भी चारित्र में उद्योग नहीं करता। जैसे जिसका पर कट गया है ऐसा पक्षी इच्छा करते हुए भी नहीं उड

सकता।

णस्सदि सगं बहुगं पि णाणमिंदियकसायसम्मिस्सं ।
विससम्मिसिददुद्धं णस्सादि जध सक्कराकढिद।। *1337*

इंद्रिय कषाय के योग से बहुत भी ज्ञान स्वयं नष्ट हो जाता है। जैसे शक्कर के साथ कढा हुआ दूध विष के मिलने से नष्ट हो जाता है अर्थात् अपने स्वभाव को छोड देता है। यहाँ शक्कर के साथ कढाया हुआ कहने से मिठास के कारण दूध की सातिशयता बतलायी है। ऐसा दूध भी विष के मेल से हानिकारक होता है।

इंदियकसायदोसमलिणं णाणं वट्टदि हिदे से।
वट्टदि अण्णस्स हिदे खरेण जह चंदणं ऊढं।। *1338*

जिसका ज्ञान होता है उसीका उपकारी होता है। यह बात प्रसिद्ध है। किंतु इंद्रिय कषाय से मलिन ज्ञान; जिसका होता है, उसका उपकार नहीं करता, दूसरों का उपकार करता है। जैसे गधे पर लदा चंदन दूसरों का उपकार करता है।

इंदियकसायणिग्गहणिमीलिदस्स हु पयासादि ण णाणं।
रत्तिं चक्खुणिमीलस्स जघा दीवो सुपज्जलिदो।। *1339*

इंद्रिय और कषायों का निग्रह करने में जो अपना उपयोग नहीं लगाता अर्थात् इंद्रिय और कषाय से प्रभावित है, उसका ज्ञान वस्तुस्वरूप का प्रकाशक नहीं होता। जैसे, जिसने आँखे मुंदी हैं उसके लिए तीव्रता से जलता हुआ दीपक पदार्थ का प्रकाश नहीं करता।

इंदियकसायमइलो बाहिरकरणणिहुदेण वेसेण ।
आवहदि को वि विसए सठणो वादसंगेणेव।। *1340*

जिसका परिणाम इंद्रिय और कषाय से मलिन होता है ऐसा कोई साधु बाह्य गमन आगमन आदि क्रियाओं के द्वारा अपने भोग के लिए विषयों को ग्रहण करता है जैसे निश्चल बैठा पक्षी अपनी चोंच से अपने शिकार को ग्रहण करता है।

घोडगलिंड समाणस्स तस्स अब्भंतरम्मि कुधिदस्स।
बाहिकरणं किं से काहिदि बगणिहुदकरणस्स।। *1341*

जैसे घोडे की लीद उपर से चीकनी और भीतर से खुरदरी होती है वैसे ही किसी का बाह्य आचरण तो समीचीन होता है किंतु अभ्यन्तर परिणाम शुद्ध नहीं होते। उसे घोडे की लीद के समान कहा है। जिसके अभ्यन्तर परिणाम शुद्ध

नहीं है उसकी बाह्य क्रिया क्या करेगी? अर्थात् इंद्रिय और कषाय रूप अशुभ परिणाम के द्वारा अभ्यन्तर तपोवृत्ति जिसकी नष्ट हो चुकी है वह बाह्य अनशन आदि तप करे भी तो क्या लाभ है। वह तो नदी के तट पर निश्चल बैठे हुए बगुले की तरह है।

बाहिकरणंविसुद्धी अब्भंतरकरणसोधणत्थाए।
ण हु कुंडयस्स सोंधी सक्कसतुसस्स कादुं जे ।। *1342*

अभ्यन्तर क्रिया विनय आदि की शुद्धि के लिए बाह्य क्रिया की विशुद्धि कहीं है। शीघ्र ही बहुत से कर्मों की निर्जरा में समर्थ अभ्यंतर तपों की वृद्धि के लिए बाह्य अनशन आदि तप सुने जाते हैं। इसलिए उनका बाह्य नाम सार्थक है। जो जिसके लिए होता है वह प्रधान होता है। इसलिए अभ्यन्तर तप की प्रधानता है। वह अभ्यन्तर तप शुभ और शुद्ध परिणाम रूप होता है। उनके बिना बाह्य तप निर्जरा में समर्थ नहीं होता है। कहा भी है 'भगवन् ! आपने आध्यात्मिक तप की वृद्धि के लिए अत्यन्त कठोर बाह्य तप किया।' ठीक ही है, क्योंकी छिलके के रहते हुए धान्य की अन्तःशुद्धि सम्भव नहीं है।

अब्भंतरसोधीए सुद्धं णियमेण बाहिरं करणं।
अब्भंतरदोसेण हु कुणदि णरो बाहिरं दोसं।। *1343*

नियम से अभ्यन्तर शुद्धि के होने से ही बाह्य शुद्धि होती है। इंद्रिय कषाय परिणाम आदि अन्तरंग परिणाम दोष से ही मनुष्य वचन और काय सम्बन्धि बाह्य दोषों को दूर करता है।

लिंगं च होदि अब्भंतस्स सोधीए बाहिरा साधी।
भिउडीकरणं लिंगं जह अंतोजाद कोधस्स।। *1344*

अनशन आदि तप विषयक बाह्य शुद्धि अभ्यन्तर परिणामों की विशुद्धि का चिन्ह है। जैसे क्रोध उत्पन्न होने का चिन्ह भ्रुकुटी चढाना होता है। इस प्रकार बाह्य और अभ्यन्तर को अग्नि और धूम की तरह परस्पर में अविनाभाविता है। जैसे आग के होने पर ही धूम होता है अतः जहाँ धूम होता है वहाँ आग अवश्य होती है। इसीको अविनाभाविता कहते हैं। धूम लिंग है आग लिंगी है। इसी प्रकार बाह्य कार्य के साथ अभ्यन्तर कारण का लिंग लिंगी भाव संबन्ध जानना। संक्षिप्ततः हे आत्मन् ! संसार दुःख के कारणभूत कर्मास्रव एवं बंध जीव के वैभाविक योग तथा उपयोग से होता है। अतः दुःख क्षय के लिए संवर, निर्जरा, मोक्ष के कारणभूत, वैभाविक योग (विषय, कषाय) त्याग करना केवल आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

परमात्म स्वरुप

द्रव्यकर्ममलैर्मुक्तं, भावकर्मविवर्जितम्।
नोकर्मरहितं विद्धि, निश्चयेन चिदात्मनः।। ***8 ।।***
आनन्दं ब्रह्मणोरुपं, निजदेहे व्यवस्थितम्।
ध्यानहीना न पश्यन्ति, जात्यान्धा इव भास्करम्।। ***9।।***
तद्ध्यानं क्रियते भव्यै, र्मनोयेन विलीयते।
तत्क्षणं दृश्यते शुद्धं, चिच्चमत्कारलक्षणम्।। ***10।।***
ये ध्यानशीला मुनयः प्रधाना, स्तेदुःखहीना नियमाद्भवन्ति।
सम्प्राप्य शीघ्रं परमात्मतत्त्वम्, व्रजन्ति मोक्षं क्षणमेकमेव।। ***11।।***
आन्द रूपं परमात्मतत्त्वम्, समस्तसंकल्पविकल्पमुक्तम्।
स्वभावलीना निवसन्ति नित्यम्, जानाति योगी स्वयमेव तत्त्वम्।
चिदानन्दमयं शुद्धं, निराकारं निरामयम्।
अनन्तसुखसम्पन्नम्, सर्वसंगविवर्जितम्।। ***13***
लोकमात्रप्रमाणोऽयं निश्चये न हि संशयः।
व्यवहारे तनुमात्रः कथितः परमेश्वरैः।। ***14***
यत्क्षणं दृश्यते शुद्धं, तत्क्षण गतविभ्रमः।।
स्वस्थचित्तः स्थिरीभूत्वा, निर्विकिल्प समाधितः।। ***15***
स एव परमं ब्रह्म, स एव जिनपुंगवः।
स एव परमं तत्त्वं, स एव परमो गुरुः।। ***16***
स एव परमं ज्योतिः, स एव परमं तपः।
स एव परमं ध्यानं, स एव परमात्मकः।। ***17***
स एव सर्व कल्याणं, स एव सुखभाजनम्।
स एव शुद्धचिद्रुपं, स एव परमं शिवः।। ***18***
स एव परमानदं, स एव सुखदायकः।
स एव परमज्ञानं, स एव गुणसागरः।। ***19***
परमाह्लादसंपन्नं रागद्वेषविवर्जितम्।
सोऽहं तं देहमध्येषु, यो जानाति स पंडितः।। ***20***
आकार रहितं शुद्ध, स्व स्वरुपे व्यवस्थितम् ।सिद्धमष्ट
गुणोपेतं निर्विकारं निरंजनम्।। ***21***
तत्सदृशं निजात्मानं, यो जानाति स पंडितः।
सहजानंदचैतन्यं, प्रकाशाये महीयसे।। ***22***

8 क्या आत्मा का वजन इक्कीस ग्राम है ?

29–2–2004 को रसरंग (दैनिक भास्कर) में एक जिज्ञासावर्धक, रुचिकर, शोधपूर्ण, आध्यात्म-विज्ञान सम्बन्धी एक विस्तृत लेख प्रकाशित हुआ था। लेख में वर्णित है कि 1907 के "अमेरिकन मेडिसिन" जर्नल में हैबरष्टिल, मैसाचुसेट्स के डॉ. डंकन मैकडुगाल की कहानी छपी है, जिन्होंने इस सिद्धान्त का वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादन किया कि आत्मा एक वस्तु (द्रव्य) है जिसके पास नापी जा सकने योग्य मात्रा (मास) या वजन (वेट) होता है। उन्होंने छह मरणासन्न लोगों के मृत्यु के पहले एवं मृत्यु के हटात् बाद के वजन के ऱ्हास (अंतर) के आधार पर कहा कि आत्मा का वजन एक औंस का तीन चौथाई याने 21.262142347500003 ग्राम है। उन्होंने आने वाले कई सालों के दौरान तीन और मरीजों पर यह प्रयोग किया जिससे अलग-अलग नतीजे मिले या तो ½ औंस या 3/8 औंस। उन्होंने पंद्रह श्वानों (कुत्ता) पर अपना प्रयोग दोहराया था और एक बार भी पैमाने पर आत्मा का वजन दर्ज नहीं हुआ था। मैकडुगाल इसकी कोई वैज्ञानिक व्याख्या नहीं कर पाये थे। क्या आप कर सकते है?

हाँ मैं (आचार्य कनकनंदी) इसकी व्याख्या सत्यग्राही अध्यात्म - विज्ञान की दृष्टि से करने का नम्र प्रयास कर रहा हूँ। यह प्रयास मैं पैतीस -चालीस वर्षों से कर रहा हूँ और शताधिक साहित्य, लेख, प्रवचन, शिविर, संगोष्ठी, वेबसाईट, कक्षा-चर्चा के माध्यम से शिक्षण-प्रशिक्षण सामान्य विद्यार्थी से लेकर वैज्ञानिक, साधु-संत, आचार्य आदि को दे रहा हूँ।

प्रथमतः मैं आत्मा के शोध वैज्ञानिक (मैकडुगाल) चिंतकलेखक (ईशिता मिश्र) प्रकाशक (दैनिक भास्कर) को धन्यवादात्मक आशीर्वाद देता हूँ। क्योंकि इससे आत्मा को जानने का एक वैज्ञानिक पद्धतिसे शोध-बोध ा होगा और यह प्रयास/पुरुषार्थ ही विश्व का सर्वश्रेष्ठतम काम है। आध ुनिक वैज्ञानिक क्षेत्र अधिकांशतः भौतिक है। यदि भौतिक विज्ञान से इतनी उपलब्धि हो सकती है तो आध्यात्मिकविज्ञान से और अधिक कितनी उपलब्धि नहीं हो सकती है ? इस आध्यात्मिकविज्ञान के कारण से ही तो प्राचीन भारत "विश्वगुरु" रहा है। यदि वर्तमान में पाश्चात्य भौतिकवादी देश के वैज्ञानिक इस क्षेत्र में प्रयास करते हैं तो हम भारतीयों का तो और भी अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण कर्तव्य हो जाता

है कि जिस क्षेत्र में हमारे पूर्वज शिखरपुरूष थे; उस महत्वपूर्ण क्षेत्र का शोध-बोध हम करें।

यह सही है कि आत्मा भी एक वस्तु (द्रव्य) है। द्रव्य होने से इसमें अनेक (अनंत) गुण धर्म अवस्थायें होती हैं। यथा :- चेतना (ज्ञान, दर्शन), सुख-वीर्य (शक्ति), अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, अगुरूलघुत्व, अव्याबाधत्व आदि गुणधर्म तथा अशुद्ध जीव (भौतिक शरीर, कर्म परमाणु, विद्युतीय शरीर, राग, द्वेष, मोह आदि से युक्त जीव यथा मनुष्य-पशु-पक्षी-वनस्पति आदि) शुद्ध जीव (उपर्युक्त भौतिक शरीरादि से रहित) की विभिन्न अवस्थायें। जिस हेतु से शुद्ध जीव (शुद्ध आत्मा) भौतिक शरीर आदि से रहित होता है तब उसमें भौतिक के गुणधर्म अवस्थायें नहीं होती हैं - जैसा कि स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, हल्का, भारी (वजन/वेट) शीत, उष्ण आदि गुणधर्म तथा ठोस, तरल, गैस, प्लाज्मा आदि अवस्थायें। भौतिक शरीर आदि से युक्त जीव में उस भौतिक के कारण उपर्युक्त स्पर्श आदि भौतिक गुण एवं ठोस आदि अवस्थायें होती हैं।

कोई मनुष्य, पशु आदि जीव (अशुद्ध जीव) जब मरते हैं तब उसके स्थूल भौतिक शरीर यहाँ छूट जाते हैं परन्तु उँसके आत्म द्रव्य के साथ-साथ सूक्ष्म भौतिक शरीर (कार्माण शरीर/कारण शरीर), (तेजस शरीर/विद्युतशरीर) को छोडकर आगे जन्म लेने के लिए निकल पडता है। परन्तु कोई आत्मशोधक/आध्यात्म पुरूष जब आध्यात्मिक विश्लेषण प्रक्रिया से संपूर्ण स्थूल भौतिक शरीर आदि के साथ-साथ सूक्ष्म भौतिक शरीर आदि को यहाँ छोडकर मरता (मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण प्राप्त करता) है तब उसका आत्म द्रव्य शुद्ध (शुद्ध जीव) होता है। उस अवस्था में उस जीव में किसी भी प्रकार के भौतिक गुणादि यथा - वजन आदि नहीं होते हैं। ऐसी परिस्थिति में आत्मा (शुद्ध आत्मा) का कोई वजन ही संभव नहीं है। जैसा कि अनंत आकाश का कोई वजन नहीं है क्योंकि आकाश अमूर्तिक हैं। शेष अशुद्ध जीव (मनुष्य, पशु) के आत्म द्रव्य के वजन मृत्यु के पहले एवं बाद के वजन के बारे में विचारणीय है। उपर्युक्त वर्णन से सिद्ध है कि मरने के बाद आत्म तत्त्व के साथ-साथ सूक्ष्म भौतिक तत्त्व भी निकल जाता है तब उस शव के वजन में परिवर्तन की संभावना विचारणीय है।

विज्ञान के अनुसार परमाणु (इलेक्ट्रॉन, न्युट्रॉन, प्रोटॉन) का वजन बहुत कम है उसमें से फिर इलेक्ट्रॉन का वजन तो और भी अति कम है। परंतु यह सब शुद्ध-यथार्थ परमाणु नहीं हैं। वह परमाणु तो इस विज्ञान सम्मत परमाणु का अनंतवा भाग छोटा है। इस परमाणु में अन्यान्य स्पर्श, रसादि गुण होते हुए भी भारी (वजन, वेट) गुण नहीं है, इतना ही नहीं ऐसे अनंतानंत परमाणु भी जब विषेश प्रक्रिया में बंध होते हैं, मिलते हैं उस समय में भी उसमें वजनपना/भारीपना नहीं आता है। मनुष्य, पशु-पक्षी आदि में स्थूल भौतिक शरीर के साथ-साथ जो सूक्ष्म शरीर (भौतिक परमाणुओं के समूह तथा विद्युतीय शरीर) होता है, उस सूक्ष्म शरीर के साथ-साथ मृतात्मा स्थूल शरीर से निकल जाता है। जिसे मृत्यु कहते हैं। अर्थात् :-

मृत शरीर (शव) + जीवंत शरीर -(आत्मा + सूक्ष्म शरीर)

यदि डॉ. डुगाल के परीक्षण से कुछ वजन घटा तो वह वजन आत्मा का नहीं है परन्तु भौतिक सूक्ष्म शरीर का होना संभव है, अथवा और किसी भौतिक प्रभाव का परिणाम हो सकता है जिसका शोध होना अपेक्षित है। अन्यथा पंद्रह श्वानों की मृत्यु के बाद वजन क्यों नहीं घटा ? तथा प्रत्येक मनुष्य की मृत्यु के बाद वजन समान क्यों नहीं घटा ? जबकि प्रत्येक जीव में आत्म द्रव्य है और प्रत्येक आत्म द्रव्य समान है। क्योंकि -''सव्वे सुद्धा हु सुद्ध णया'' अर्थात् शुद्ध नय/ शुद्ध दृष्टिकोण से प्रत्येक जीव शुद्ध है और वे सब परस्पर समान हैं, अर्थात् कोई बडा, कोई छोटा नहीं है।

वर्णाः रसाः पंच गंधौ द्वौ स्पर्शः अष्टो निश्चयात् जीवे।
नो संति अमूर्तिः ततः व्यवहारात् मूर्तिः बंधतः।।

विश्व द्रव्य विज्ञान।

According to Nischaya Naya, five is without form; becouse the five kinds of colour and taste, two kinds of smell, and eight kinds of touch are not present init. But according to Vyavahara Naya (five) has form throught the bandage (of Karma).

निश्चय से जीव में पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध और आठ स्पर्श नहीं है इसीलिए जीव अमूर्त है और बंध से व्यवहार की अपेक्षा करके जीव मूर्त है।

इंद्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रीयेभ्यः परंमनः।
मनसस्तु परा बुद्धि बुद्धैः परतस्तु सः।। गीता।।

इंद्रिया सूक्ष्म हैं, उनसे अधिक सूक्ष्म मन है, उससे अधिक सूक्ष्म बुद्धि है। जो बुद्धि से भी अत्यन्त सूक्ष्म है वह आत्मा है।

उर्ध्व गौरव धर्माणः जीवो इत्ति जिनोत्तमेः।
अधो गौरव धर्माणः पुद्गला इति चोदितम्।। तत्त्वार्थसार।।

सर्वदर्शी जिनेंद्र भगवान् ने जीव को उर्ध्वगौरव धर्म वाला बताया है और पुद्गल को अधोगौरव धर्म वाला प्रतिपादित किया है।

जीव की स्वाभाविक गति उर्ध्व गमन करने की है। पुद्गल (Matter) की स्वाभाविक गति नीचे से नीचे की ओर है। कारण यह है कि जीव की अमूर्तिक एवं स्थानांतरित रुप गतिक्रिया-शक्ति से युक्त होने के कारण उसकी गति उर्ध्व गमन होना स्वाभाविक है।

अधस्तिर्यक् तयोर्ध्वं च जीवानां कर्मजा गतिः।
उर्ध्वमेक स्वभावेन भवति क्षीण कर्मणाम्।। तत्त्वार्थसार।।

जीव की संसार अवस्था में जो विभिन्न गति होती हैं, वह स्वाभाविक गति नहीं है। जीव की संसार अवस्था में अधोगति, तिर्यक्गति, उर्ध्वगति का कारण कर्मजनित है। संपूर्ण कर्म से रहित जीव की केवल एक स्वाभाविक उर्ध्वगति ही होती है।

पयडि ट्ठिदि अनुभागप्पदेस बंधेहिं सव्वदो मुक्को।
उड्ढं गच्छदि सेसां विदिसा वज्जं गदिं जंति।। प्रवचनसार।।

प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध, प्रदेश बंध से संपूर्ण रुप से मुक्त हाने के बाद परिशुद्ध स्वतंत्र शुद्धात्मा तिर्यक् आदि गतियों को छोडकर उर्ध्वगमन करता है।

नरनारकतिर्यक् सुरा जीवाः खलु नामकर्म निर्वताः।
न हि ते लब्धस्वाभावाः परिणममानाः स्वकर्माणि।। त.सा

मनुष्य, नारक, तिर्यंच और देव रुप जीव वास्तव में नामकर्म से निष्पन्न है। वास्तव में जीव अपने-अपने उपार्जित कर्म रुप से परिणित होते हुए चिदानंद स्वभाव को प्राप्त नहीं होते।

इसीप्रकार पापकर्म भारी, अशुभवर्ण, अशुभस्पर्श, अशुभगंध, अशुभरस होने के कारण पाप सहित जीव भी वजनदार हो जाता है, जिससे पापी

जीव का पतन विश्व के नीचे से नीचे की ओर होता है। कम पाप से प्रथम नरक में, उससे अधिकपाप से दूसरें नरक में, इसी प्रकार उत्तरोत्तर पाप की वृद्धि होने से नीचे-नीचे पतित होने से सप्तम् नरक तक पतित होता है।

पुण्य परमाणु हल्का, शुभ वर्ण, शुभ स्पर्श, शुभ गंध, शुभ रस होने से पुण्य सहित जीव (पुण्यात्मा) विश्व के उपर की ओर गमन करता है। स्वर्ग के योग्य सामान्य पुण्य से प्रथम स्वर्ग में उत्पन्न होता है। और इसी प्रकार उत्तरोत्तर पुण्य की वृद्धि से सर्वार्थसिद्धि तक उत्पन्न होता है।

पुण्य एवं पाप दोनों की मिश्र अवस्था अर्थात् सम अवस्था में जीव विश्व के मध्य भाग अर्थात् मध्य लोक में मनुष्य एवं तिर्यंच होकर जन्म ग्रहण करता है।

पुण्य पाप से जब जीव आध्यात्मिक प्रक्रिया से सर्वथा भिन्न हो जाता है, तब वह जीव संपूर्ण बंधन को तोडकर सीधी उर्ध्व गति से गतिमाध्यम द्रव्य का जहाँ तक अस्तित्व है अर्थात् लोकाग्र शिखर में जाकर अनंत काल तक वहाँ स्थिर हो जाता है।

वैज्ञानिक क्षेत्र, उपकरण, सीमा आदि भौतिक होने से उनके द्वारा शोधित-बोधित प्रायः समस्त सत्य, तथ्य, प्रमेय, सिद्धान्त आदि भौतिक/मूर्तिक/ पौद्गलिक हैं। परन्तु आत्मा, समय(काल) आदि अभौतिक होने से वैज्ञानिक उपकारणादि से इनका यथार्थ पूर्ण ज्ञान होना कठिन है, असंभव प्रायः है। परन्तु वैज्ञानिक पद्धति से आध्यात्मिक ज्ञान का शोध-बोध-प्रस्तुतीकरण- प्रचार-प्रसार एवं आचरण करना आज विश्व की माँग है। इससे ही स्व-पर राष्ट्र-विश्व कल्याण संभव है। इसके लिए विश्व के प्रत्येक सन्त को वैज्ञानिक एवं प्रत्येक वैज्ञानिक को सन्त बनना आवश्यक है। ऐसे वैज्ञानिक-संतों से मेरा सादर, सनम्र, साग्रह आह्वान है कि आओ ! हम सब मिलकर समस्त सत्य, तथ्य, पदार्थ, द्रव्य, विकास, कल्याण के मूलभूत ''आत्मा'' (परमात्मा, आध्यात्मिक) का एक प्रभावोत्पादक, युगान्तकारी, क्रान्तिकारी, शांति प्रदात्री चर्चा हो, शोध हो, बोध हो ऐसा प्रयास करें।

आनन्दरुपं परमात्म तत्त्वम्, समस्त संकल्पविकल्पमुक्तम्।
स्वभालीनां निवसन्ति नित्यम्, जानाति योगी स्वयमेव तत्त्वम्।।

9 साधुओं की विहार नीति एवं चातुर्मास पद्धति

आचार्य कुन्दकुन्द देव ने साधुओं को परिस्थिति, मनःस्थिति देखकर स्वकर्तव्यों का परिपालन करने के लिए प्रेरित करते हुए कहा है

दव्वं खेत्तं कालं भावं च सुट्ठु णादुणं।
झाणं अज्झयणं मुणिधम्मं समाचरउ।।

अर्थात् मुनि द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव को सम्यक् प्रकार से जानकर ध्यान, अध्ययन तथा मुनिधर्म का परिपालन करें। इसे जैन धर्म में ''स्व-पर-चतुष्टय'' कहते हैं और विज्ञान के अनुसार ''चतुःआयाम सिद्धांत'' कह सकते हैं। ''साध्य तातु साध्यविज्ञान'' आदि सिद्धान्त भी हमें ये ही शिक्षा देते हैं। चतुष्टय में न्यूनाधिक तथा परिवर्तन होने पर कार्य / फल में भी न्यूनाधिक तथा परिवर्तन भी हो जाता है । अतः साधुओं को भी सम्यक्/उत्तम कार्य/फल के लिए सम्यक्/उत्तम द्रव्यादि का आश्रय लेना चाहिए। उपर्युक्त सिद्धांत /नियम को वर्तमान के ''साधुओं की विहार नीति एवं चातुर्मास पद्धति'' में अनुसृत करके कुछ स्पष्टीकरण कर रहा हूँ जिससे गृहास्थाश्रमी एवं साधु-साध्वी वर्ग लाभान्वित हो सकें।

(1) साधना एवं स्वास्थ्य अनुकूलता

जिस योग्य क्षेत्रादि में साधुओं के आहार, विहार, निवास, चातुर्मास, स्वास्थ्य, रत्नत्रय शांति के अनुकूल हो उस क्षेत्रादि में साधुओं को विहारादि करना चाहिए। वर्तमान काल में हीनसंहनन/शक्ति के कारण विपरीत क्षेत्रादि में स्वास्थ्य उत्तम नहीं रहता है, साधना एवं प्रगति नहीं होती है, शांति नहीं मिलती है जिससे संक्लेश हो सकता है और जिसका फल पापबंध और दुर्दशा/दुर्गति है।

आगम में तो साधुओं के लिए अधिक समय नगर में तथा ग्राम में कम समय रहने के निर्देश है परन्तु वर्तमान समय में नगर में प्रदूषण अधिक है, रहने की, शौच आदि की समस्या ग्राम, कस्बा से नगर में अधिक है। अतः ग्राम, कस्बा में अधिक समय रहना अधिक उचित है। अन्य एक कारण यह है कि पूर्व काल में जैन धर्मावलम्बियों की संख्या अधिक होने के कारण क्षत्रिय तथा ब्राह्मण एवं वैश्य साधुओं को आहार देते थे उनकी सेवा एवं व्यवस्था करते थे। इसलिए आगम में नगर में अधिक दिन रहने का जो विधान है वह उस समय के लिए सही था परन्तु अभी ऐसी परिस्थितियाँ कम पाई जाती हैं।

(2) योग्य विहार पद्धति

दिगम्बर जैन साधु नग्न पैर से ही विहार करते हैं। शरीर पर वस्त्र का

अभाव रहता है। एक बार अंतराय रहित आहार करते हैं इसलिए उन्हें योग्य काल में ही विहार करना चाहिए, जिससे उन्हें अनावश्यक कष्ट नहीं हो तथा जिसप्रकार वर्षा ऋतु में विहार नहीं करते हैं उसीप्रकार भयंकर शीत एवं ग्रीष्म ऋतु में विहार नहीं करना चाहिए। जिस समय में शादी-विवाह अधिक होते हैं उस समय भी विहार नहीं करना चाहिए क्योंकि लोग शादी-विवाह में व्यस्त होने के कारण साधुओं की व्यवस्था उचित ढंग से नहीं होती है। जिस ग्राम-नगर में बार-बार साधु आते हैं या अभी-अभी चातुर्मास करके विहार कर गये हैं, उस ग्राम, नगर में या जिस नगर, ग्राम में जो साधु पहले गये हुए हैं उन्हें शीघ्रता से पुनः वहाँ नहीं जाना चाहिए। अनुभव में आता है कि ऐसी परिस्थिति में साधुओं की व्यवस्था/भक्ति कम हो पाती है। क्योंकि श्रावक पूर्व व्यवस्था आदि के कारण जो पहले समय, धनादि का उपयोग करते हैं उसकी आपूर्ति के लिए व्यस्त होते हैं और कुछ उदासीनता, अरूचि भी आ जाती है।

(3) योग्य चातुर्मास

जिस क्षेत्र की ओर विहार करना है उसकी एक सुनियोजित समय-सारणी बनाना चाहिए। किसी ग्राम या नगर के श्रावक यदि पंचकल्याणक/विधान/चातुर्मास या प्रवास के लिए निमंत्रण देने के लिए आते हैं तब साधु को एक निश्चित समय में आने के लिए या निवास (प्रवास) के लिए या विहार के लिए वचनबद्ध नहीं होना चाहिए क्योंकि इससे साधु की स्वाधीनवृत्ति में बाधा आती है, अनेक समस्यायें उत्पन्न होती हैं, श्रावक के अनुसार चलना पडता हैं। इतना ही नहीं वचनबद्ध होने के बाद श्रावक अपना कर्तव्य भी सही रुप से पालन नहीं करते हैं। साधु यदि वचन के अनुसार स्व-कर्तव्य नहीं करते है तो उन्हें भी दोष लगता है। इसीलिए चातुर्मास स्थल में साधुओं को कम से कम पंद्रह दिन पहले पहुँचकर वहाँ की भावना, भक्ति, व्यवस्था, परिस्थिति आदि का प्रायोगिक परीक्षण, निरीक्षण, अनुभव लेकर ही योग्य स्थान होने पर वहाँ चातुर्मास (प्रवास, निवास) करें अन्यथा योग्य स्थान के लिए विहार करें। ऐसी परिस्थिति में चातुर्मास की स्थापना श्रावण कृष्ण पंचमी को करने का विकल्प है। अन्यथा आषाढ शुक्ल चतुर्दशी की रात्री के प्रथम प्रहर में चातुर्मास की स्थापना होती है। चातुर्मास की अवधि में भी चारों दिशाओं में कुछ दूरी तक विहार करने की मर्यादा रखते हैं। समाधिस्थ मुनि की सेवार्थ, दुर्भिक्ष, बाढ, भूकंप, महामारी, युद्ध आदि की परिस्थिति में निर्धारित मर्यादा के आगे भी विहार कर सकते हैं। यथा :-

ततश्चतुर्दशी पूर्वरात्रे सिद्धमुनिस्तुति।
चतुर्दिक्षु परीत्यालयाश्चैत्यभक्तिर्गुरु स्तुतिम्।। *66*
शान्तिभक्तिं च कुर्वाणैर्वर्षयोगास्तु गृह्यताम्।
अर्जकृष्ण चतुर्दश्यां पश्चाद्रात्रौ य मुच्यताम्।। *67 अ.ध.*

उपर्युक्त प्रत्याख्यान को ग्रहण करने की जो विधि बताई है तदनुसार उसको ग्रहण करने के अनन्तर आचार्यप्रभूति साधुओं का वर्षायोग का प्रतिष्ठापन करना चाहिए और चातुर्मास के अन्त में उसका निष्ठापन करना चाहिए। इस प्रतिष्ठापन और निष्ठापन की विधि इस प्रकार है -

चार लघु चैत्यभक्तियों को बोलते हुए और पूर्वादिक चारों दिशाओं की तरफ प्रदक्षिणा देते हुए आषाढ शुक्ल चतुर्दशी की रात्री को पहले ही प्रहर में सिद्ध भक्ति और योगी भक्ति काभी अच्छी तरह पाठ करते हुए और पंच गुरुभक्ति तथा शांतिभक्ति को भी बोलकर आचार्य और इतर संपूर्ण साधुओं का वर्षायोग का प्रतिष्ठापन करना चाहिए।

भावार्थ :- पूर्व दिशा की तरफ मुख करके वर्षायोग का प्रतिष्ठापन करने के लिए " यावन्ति जिनचैत्यानि इत्यादि श्लोक का पाठ करना चाहिए। पुनः आदिनाथ भगवान् और दूसरे अजितनाथ भगवान् इन दोनों का भी स्वयंभू स्तोत्र बोलकर आलिका सहित चैत्यभक्ति करनी चाहिए। यह पूर्व दिशा की तरफ के चैत्य-चैत्यालय की वंदना है। इसी प्रकार दक्षिण, पश्चिम और उत्तर की तरफ की वंदना क्रम से करनी चाहिए।"

यह वर्षा योग के प्रतिष्ठापन की विधि है। यही विधि निष्ठापन में भी करनी चाहिए। अर्थात् कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्री के अन्तिम प्रहर में पूर्वोक्त विधान के अनुसार ही आचार्य और साधुओं को वर्षायोग का निष्ठापन कर देना चाहिए।

इस वर्षायोग के विधि में भी जो विशेषता है उसको श्लोक में बताते हैं:-

मासं वासोऽन्यदैकत्र योग क्षेमं शुचौ व्रजेत्।
मार्गेऽतीते त्यजेच्चार्थवशादपि न लंघयेत्।। *68*
नभश्चतुर्थी तद्याने कृष्णां शुक्लोर्जपंचमीम्।
यावन्नगच्छेत्तच्छदे कथंचिच्छेदमायरेत्।। *69*

वर्षायोग के सिवाय दूसरे समय हेमंत आदि ऋतु में भी आचार्य आदि श्रमण संघ को किसी भी एक स्थान या नगर आदि में एक महीने तक के लिए निवास करना चाहिए। तथा आषाढ में पहुँच जाना चाहिए और मृगशीर्ष महीना पूर्ण होने पर

उस क्षेत्र को छोड देना चाहिए। परंतु इतना और भी विशेष है कि उस योग्य स्थान पर जाने के लिए श्रावण कृष्ण चतुर्थी का अतिक्रमण कभी नहीं करना चाहिए। भगवती आराधना में भी कहा है - **"ऋतुषु षट्सु एकैकमेव मासमेकत्र वसतिरन्यदा विहरति इत्ययं नवमः स्थितिकल्पः।"**

छः ऋतुओं में एक-एक महीना ही एक स्थान पर रहना और अन्य समय में विहार करना नवम स्थितिकल्प है।

विंशत्यधिकं दिवसशतं एकत्रावस्थनमित्ययमुत्सर्गः। कारणापेक्षया तु हीनमधिकं वावस्थानं, संयतानां आषाढशुद्धदशम्यां स्थितानां उपरिष्टाच्च कार्तिकपौर्णिमास्यास्त्रिंशद्दिवसावस्थानं। वृष्टिबहुलतां, श्रुतगहणं, शक्त्यभाववैयावृत्त्यकरणं प्रयोजनमुद्दिश्य अवस्थानमेकत्रेति उत्कृष्टः कालः। मार्यां, दुर्भिक्षे, ग्रामजनपदचलेन वा गच्छनाशनिमित्ते समुपस्थिते देशांतर यति अवस्थाने सति रत्नत्रयविराधना भविष्यतीति पौर्णमास्यामाषाढ्यामतिकान्तयां प्रतिपदादिषु दिनेषु यति यावच्च त्यक्ता विंशतिदिवसा एतदपेक्ष्य हीनता कालस्य।

पज्जोसमण नामक दसवां कल्प है। उसका अभिप्राय है वर्षाकाल के चार मासों में भ्रमण त्याग कर एक ही स्थान पर निवास करना। उस काल में पृथ्वी स्थावर और जंगम जीवों से व्याप्त रहती है। उस समय भ्रमण करने पर महान् असंयम होता है। तथा वर्षा और शीत वायु के बहने से आत्मा की विराधना होती है। वापी आदि में गिरने का भय रहता है जलादि में छिपे हुए ठूंठ, कंटक आदि से अथवा जल कीचड आदि से कष्ट पहुँचता है। इसीलिए 120 दिन तक एक स्थान पर रहना उत्सर्गरुप नियम है। कारण वश कम या अधिक दिन भी ठहरते हैं। आषाढ शुक्ला दशमी को ठहरने वाले साधु आगे कार्तिक की पूर्णमासी के पश्चात् तीस दिन ठहर सकते हैं। वर्षा की अधिकता, शास्त्र पठन, शक्ति का अभाव, वैयावृत्य करने के उद्देश्य से एक स्थान पर ठहरने का यह उत्कृष्ट काल है। इस बीच में यदि मारी रोग फैल जाये, दुर्भिक्ष पड जाये या गच्छ का विनाश होने के निमित्त मिल जायें तो देशांतर चले जाते हैं क्योंकि वहाँ ठहरने पर भविष्य में रत्नत्रय की विराधना हो सकती है।

आषाढ की पूर्णमासी बीतने पर प्रतिपदा आदि के दिन देशांतर गमन करते हैं। इस तरह बीस दिन तक कम होते हैं। इस अपेक्षा काल की हीनता होती है। (भ.आ. – 333–334)

चातुर्मास या विहारादि स्व-परकल्याण, धर्म प्रभावना के लिये होना चाहिए। इससे साधु एवं श्रावकों को कष्ट, संक्लेश, तनाव, दबाव नहीं होना

चाहिए। बाह्य-आडम्बर, अनावश्यक धन का अपव्यय नही होना चाहिए। पंथ-वाद, मतवाद, जातिवाद, संतवाद, ग्रन्थवाद, पार्टीवाद के कारण वाद-विवाद, तनाव, झगड़ा-कलह, फूट-लूट, निन्दनीय है। केवल चातुर्मास को अनावश्यक महत्त्व देकर अन्य समय में देव शास्त्र, गुरू, प्रवचन, धर्म, पर्व, दान, गुरूसेवा आदि का महत्त्व नहीं घटाना चाहिए। क्योंकि यह सब प्राण वायु के सम्मान प्रतिक्षण सेवनिय, पूजनीय, महत्वपूर्ण होते हैं।

4. *अनियत आहर–विहार*

साधु, अतिथि, स्वावलम्बि, गोचरीवृतीवाले, भ्रमरीवृतीवाले, सिंहवृतीवाले, भिक्षुक होने से श्रावकों के बिना निमंत्रण/आग्रह/श्रीफल/अर्पण से विहार आदि करना चाहिये। इसका यह भी गलत अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि श्रावक भक्ति/भावना से साधुओं का स्वागत न करें परन्तु साधुओं को यह आग्रह नहीं करना चाहिए कि श्रावकों के नियन्त्रण से ही विहारादि करें। कुछ श्रावक साधुओं को पंचकल्याण, विधान,वेदीप्रतिष्ठा आदि के लिए तो बुला लेते हैं परन्तु साधु की आहार,विहार, निवास, शौच आदि की समुचित व्यवस्था नहीं करते। कुछ श्रावक तो स्वार्थसिद्धि, कार्यक्रम की सफलता, धनसंग्रह तथा भीड़ जुटाने आदि के लिये साधुओं को बुला लेते हैं, परन्तु साधुओं का प्रवचन नहीं करवाते हैं, कार्यक्रम के बाद साधुओं के दर्शन तक के लिये नहीं आते हैं। वे अपना वचन पालन नहीं करते हैं। ऐसी परिस्थितियों में साधुओं का सावधान होकर कार्य करना चाहिए। अनावश्यक संक्लेशप्रद दौड़ - धूप नहीं करनी चाहिये। इससे ध्यान, अध्ययन, संयम पालन भी सही रूप से नहीं हो पाता है। रास्ते की दूरी के लिये भी प्रायः श्रावक भी झूठ बोलते हैं अर्थात् अधिक दूरी को कम बोलते हैं। श्रावक द्वारा व्यवस्था में कोई कमी रहने पर भी साधुओं को क्रोधित, क्षुभित, दुःखित न होकर धैर्य से समता से कार्य करने पर श्रावकों द्वारा धीरे-धीरे व्यवस्था सही कर लिया जाता है। पहले-पहले कुछ अव्यवस्था होती हैं। साधुओं को अतिशीघ्र ग्रामादि से विहार करने पर श्रावकों को समुचित शिक्षा/परिचय/धर्म-ज्ञान, आहार का परिज्ञान भी पूर्ण नहीं हो पाता है। इससे अनेक अव्यवस्थाऐं, समस्यसयें उत्पन्न होती हैं। यह सब 30 वर्षो का 13 प्रदेशों का मेरा अनुभव है।

वर्तमान की आवश्यकता है साधु एवं श्रावक समग्रता से स्वशक्ति/बुद्धि/समय, उपलब्धि का सदुपयोग करते हुए जैन धर्म के अनेकांत, उदारता, साहिष्णुता, पवित्रता, अहिंसा, सत्य, अतृष्णा, प्रेम संगठन, विश्वमैत्री को स्वयं अपनायें एवं प्रचार- प्रसार करें।

10 वैज्ञानिकों के लिए भी शोधनीय तत्त्व

(साहित्य समीक्षा) वैज्ञानिक सुलतान सिंह

आचार्य कनकनंदी जी गुरुदेव द्वारा लिखित "ब्रह्माण्डीय जैविकि, भौतिक एवं रसायन विज्ञान" ग्रन्थ (पुस्तक) पढने के पश्चात् उन गूढ तथ्यों का ज्ञान हुआ जिन्हें विशेष ज्ञान कहा जा सकता है। जिन्हें जानने के लिए जैन दर्शन के मनीषियों के और गौतमगणधर के उन प्रयासों तक के चिंतन में उतरना होगा जो उन्होंने तीर्थंकर महावीर और अन्य तीर्थंकरों के उपदेशों और वाणी खिरने से लेकर उनके विचारों और भावों तक को उन ग्रंथों में संकलित कर दिया जो हजारों वर्षों पूर्व जैन दर्शन की धरोहर के रूप में भोज पत्रों में उकेरे गये थे। धर्माचार्य गुरुदेव ने उन अप्राप्य ग्रन्थों को और उसकी कतरनों को एक सुदृढ रूप में रूचि पूर्वक जो उनके संकलन का प्रयास किया है वह एक योगी ही कर सकता है, संत ही कर सकता है जिसे भौतिक संसार से वियोग हो गया है। यह अद्भुत कार्य आपके कई दशकों का चिंतन और प्रारंभिक उस प्रतिभा का परिचय दे रहा है; जो जीवाणु रूप में आपमें परम्परागत चले आ रहें थे। भगवान् महावीर ने कहा था कि व्यक्ति जन्म से नहीं कर्म से महान् बनता है। उनकी इस वाणी को साकार करने के लिए यह ग्रन्थ उन उन विभूतियों के विचारों से व्यक्ति का सामंजस्य कराकर व्यक्ति के आगन्तुक कर्मों में एक बोध व शोध का विशेष विषय बनकर उभर रहा है। यह व्यक्ति को चिन्तन के उस कगार पर ले जाता है जहाँ पर आध्यात्मिक एवं भौतिक चिन्तनों की सीमायें एकाकार होने की ओर समुख है। इसी कारण वैज्ञानिकों के लिए यह एक अत्यन्त उपयोगी एवं चिन्तन करने का विषय है जिसके आधार पर बहुत सी नई खोजों को साकार किया जा सकता है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में सबसे बडी कठिनाई शोध विषय में इस कारण आती है, क्योंकि सभी कुछ अदृश्य में उतर कर उन दृश्यों तक पहुँचा जा सकता है जिनका अनुभव हमारे तीर्थंकरों ने करके अपनी वाणी खिरने के माध्यम से मनुष्य, पशु-पक्षी तक को भाव विभोर कर दिया था और मनुष्य तो आज भी उनके प्रयोगों, अनुभवों से भाव विभोर है। उक्त ग्रन्थ में दर्शाया गया है कि तीर्थंकरों की वाणी 718 भाषाओं में खिरी थी। मैं इसका स्पष्टिकरण कर दूँ कि जब व्यक्ति विशेष उस स्थिति में पहुँच जाता है जिसमें हमारे भगवान् महावीर और हमारे अन्य तीर्थंकर पहुँचे थे, ऐसी

स्थिति में भाषा ज्ञान सार्वभौम हो जाता है। क्योंकि ऐसे व्यक्ति का रोम-रोम, हाव-भाव, मुख-मुद्रा, चाल-ढाल, बोल-चाल सभी कुछ इस प्रकार प्रस्फुटित हो जाते हैं जैसे प्रकाश किरण, जो अन्धकार चाहे पाताल में हो आकाश में हो, धर्मात्मा की कुटिया में हो या पापी के कुवे में हो, सभी जगह उजाला कर देती है। यह बात उस हीरे की है जिससे सतत् प्रकाश प्रस्फुटित होता रहता है। अन्धकार समाप्त हो जाता है। उस हीरे के स्वरूप को बिना किसी बाह्य प्रकाश के देख सकते हैं। अब तीर्थंकरों की वाणी खिरने की भाषा के स्वरूप पर चिंतन करने की आवश्यकता है। जैसा कि उपर बताया है कि उनके रोम-रोम से उनके पाजहा अहिंसा मई परोपकारी भाव प्रस्फुटित होते थे यही तो उनकी वाणी थी। 718 भाषाओं में क्या जो भी उनके संपर्क में आया वही उनकी वाणी को समझ गया !

जो लोग वाणी का तात्पर्य भाषा से लेते हैं सम्भवतः वे शाब्दिक अर्थों में फंसे हैं। प्रेम की कोई भाषा नहीं होती है। हर देश में कितनी भाषायें हो सकती है। लेकिन प्रेम भाषा जिसे स्नेह भाषा भी कहते हैं, यह भाषा केवल एक ही होती है वह भी बिना शब्दजाल के। जिसे संसार के हर स्त्री, पुरूष, पशु-पक्षी, कीट-पंतगें भी समझ लेते हैं। इस भाषा को समझने के लिए प्रज्ञा रुप आँखे चाहिए, अन्तरंग की तरंगों को जानने के लिए अन्तरंग की तंरगें चाहिए।यह तभी संभव है जब आप महावीर प्रभु जैसे महामानव के समक्ष हो। आप अपने जीवन में भी अनुभव करते हैं कि कुत्ता जो रसोई के बाहर खडा पुंछ हिला रहा है। वह आपसे रोटी का टुकडा मांग रहा है। उसके बोले बिना ही आप उसकी भाषा समझ लेते हैं यदि आपने उसे रोटी न देने का मन बना लिया है तो थोडा आपकी तनी हुई भौवें व लाल आँख देखकर आपके हाव-भाव समझकर कुत्ता वहाँ से बिना टुकडा लिए ही नौ दो ग्यारह हो जाता है - वह भी आपकी भाषा को पढ लेता है। आवश्यकता इस बात की है कि जो उन प्राचीन शास्त्रों और ग्रन्थों में लिखा है उन्हें हम अपनी ग्रंथी में उतारकर उन्हें एक प्रमाणित स्वरूप में पेश करे। मेरा कहना है कि हर समस्या अपना समाधान अपने साथ लेकर आती है, बिना समाधान के कोई समस्या है ही नहीं। मैंने अपने शब्द कोश में Impossible शब्द हटा दिया है क्योंकि Impossible = I m (am) possible.

उक्त ग्रंथ में पढने को मिला कि अरिहंतों का शरीर पारदर्शिक था,

ठीक ही लिखा है। केवल समझने का फेर है। कांच या शीशा तो पारदर्शिक होते हुए भी पूरी तरह पारादर्शिक नहीं होता है। क्योंकि प्रकाश का कुछ अंश उसमें रूक जाता है। लेकिन अरिहंतों की पारदर्शिता के विषय में मैं बता दूँ कि जब कथनी करनी एक हो जाती है; आत्मा में केवल ज्ञान ही ज्ञान रह जाता है, ऐसा व्यक्ति पारदर्शिता की कसोटी पर शत् प्रतिशत उस खरे कनक के समान है जो उस कनक की खरेपन की पारदर्शिता बता रही है कि उसमें कोई खोट नहीं है। किसी भी व्यक्ति का खरापन ही उसकी पारदर्शिता होती है। और उसका खारापन उसकी पारदर्शिता को रोक लेता है। तीर्थंकर महावीर के उद्‌गारों को समझने के लिए हमें अपने व्यवहारिक और वैज्ञानिक चिंतन का आधार लेना जरूरी है।

आइन्स्टीन का सापेक्षितता का सिद्धान्त तो बहुत बाद की बात है। तीर्थंकर महावीर ने तो सापेक्षिक सिद्धान्त की व्याख्या 2600 वर्ष पूर्व कर दी थी। इसी सिद्धान्त के बल पर भगवान् महावीर ने उन भ्रमात्मक विचारों को समझने के लिए एक नई दिशा दी थी, जिसे बादमें आइन्स्टीन ने पूरी तरह समझ लिया था। महावीर भगवान् ने हर दोष से मुक्त होने के अभिप्राय से सापेक्षिक एक कसौटी के रूप में लिया - अनेकता में एकता, अनेकतावाद इसी की देन है। महावीर का स्याद्‌वाद पूरी तरह से सत्य के उन पहलुओं की रक्षा करता है जो उन्होंने सत्य को उस सत्य रूप दे दिया जो किसी असत्वादी के हृदय को भी सत्य में बदलनेका सामर्थ्य रखता है तथा असत्य के शाब्दिक अर्थों से ऊपर उठकर वह व्यक्ति को मुक्ति मार्ग की ओर अग्रसर करता है। जाने या अनजाने में किसी भी और तनिक भी असत्य से बचने के लिए महावीर का स्याद्‌वाद जो सापेक्षिकता का मूलभूत आधार व्यवहारिक रूप में प्रतिदिन होने पर ''क्षमा वीरस्य भूषणम्'' जैसी शब्द गूंज को भी स्फुटित करता है। यह बताना कि मेंरा घर उक्त नगर के त्रिनाथ के घर के सामने है और त्रिनाथ का घर कहाँ है ? वह मेरे घर के सामने है। दोनों आमने-सामने है। इसका कोई अर्थ नहीं निकलता है। परंतु बताने वाले के पास जितनी बुद्धि थी उसने बता दिया आप उससे पूछिए मकान का मुँह किस दिशा में है और स्टेशन से आते समय कौनसे सडक पर दाहिने हाथ है या बाये हाथ है। वह बता देता है। अतः किसी भी भ्रम को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि प्रश्न कर्ता उत्तर देने वाले की साहयता करें। जो तथ्य आज सत्य है, कल असत्य भी हो सकते

है। यह भौगोलिक परिस्थितियों और सीमाओं के वशीभूत है। महावीर का सापेक्षिक सिद्धांत उन दोषों से मुक्त है जो प्रायः उभर आते हैं।

सामान्यतया जितनी भी समस्यायें, तत्त्व या तथ्य होते हैं जबतक उनका समाधान नहीं निकल आता है वह सब ही अविज्ञात होते हैं। इनके सत्य होने की पुष्टि इनकी खोज, अविष्कार और शोध के पश्चात् ही हो जाती है। प्रस्तुत ग्रंथ पुस्तक में कुछ सत्य ऐसे हैं जो विज्ञान के लिए अभी भी समस्या के रूप में हैं। जैन दर्शन वैज्ञानिक कसौटी पर खरा उतर रहा है। पेड पौधों में जीव का होना भगवान् महावीर ने बताया था, जिसे बाद में वैज्ञानिकों ने भी स्वीकारा है। ग्रंथ में ब्रह्माण्डीय जैविक, भौतिक एवं रसायन विज्ञान के दर्शन का समायोजन करने का प्रयत्न किया गया है। यह विषय इतना वृहत् है कि इस पर कई एक ग्रंथ लिखे जा सकते हैं। एक सरसो के बीजाणु को लक लिजिए, इस गोल-मटोल बिज में बीजाणु है लेकीन उसमें कोई हलचल नहीं है। उसी प्रकार का मूली का मिलता जुलता बीज होता है किग उसके बीजाणु में भी कोई हलचल नहीं होती है। इन्हीं से मिलता-जुलता एक कृत्रिम बीज तैयार कर लीजिए। इन तीनों को एक साथ देखने पर ये बताना बडा कठिन है कि कौनसा क्या है। इनको बोने के पश्चात् ही ये अपना परिचय स्वयं ही दे देते हैं। एक बीज में अणु शक्ति से भी अधिक शक्ति है। एक बीज का विस्फोट अनादि काल से हो रहा है और अनंत काल तक चलता रहेगा। कुछ बीजाणु तो ऐसे है जो ना भी बोने पर पशु-पक्षियों के खाने के उपरांत उनके गोबर और बीट से ही जम जाते है। इसी प्रकार जीव के जीवाणु में भी अनंत शक्ति है। बीजाणु या जीवाणु में सृजन की क्रियायें होती है और यह अपने स्रोत के अनुकूल आकृति में आ जाते हैं।

यदि एक अजीव तत्त्व जैसे चीनी, नमक, नौशादर आदि को ले तो इनको पानी में डाल देने पर इनमें विघटन अर्थात् विसर्जन की क्रिया होती है। पानी में घुल कर इनका अस्तित्त्व समाप्त हो जाता है। इन्हें फिर से अस्तित्त्व में लाने के लिए पानी को उबाल कर पानी की बाफ बनने तक प्रतीक्षा करनी पडेगी। यह भी चिंतन का विषय है कि चीनी मीठी, नमक खारा होता है। सॅकरीन चीनी से पांचसौ अधिक मीठी होती है। मीठास तो अधिक या कम घनत्त्व में सीमित किया जा सकता है। लेकिन नमक के

विषय में ऐसा देखने में नहीं आया है। चीनी गन्ने के रस से बनती है, रस में मिठास की मात्रा का उस प्रकृति के संचालन पर निर्भर करता है। लेकिन नमक के खारापन का किसी बीजाणु से संबन्ध नहीं है। बहुदा यह समुंद्र के खारेपन से बनता है पहाडों से भी नमक निकाला जाता है। समुंद्र का पानी खारा नहीं होता है। समुंद्र का खारापन उन नदी-नालों के कारण है जो समुंद्र में गिरते हैं और ये नदी-नाले समुंद्र तक चलने-बहने की अपनी यात्रा में बीजाणुओं और जीवाणुओं से उत्सर्जित लवणोंको बहाकर समुंद्र में उनके गिरने से उसे खारा बनाये रखते हैं।

जैविक क्रिया और रासायनिक क्रियायें विज्ञान के ऐसे आश्चर्य है जिनपर मानव सतत् प्रयोग करता चला आ रहा है। ग्रंथ में इनका विवेचन सार गर्भित है तथा जीव अजीव के रिश्तों में एक तारतम्य स्थापित किये हुए है। ब्रह्माण्डीय तथ्यों के विषय में तो जानकारी ग्रंथाकार ने दी है। हालांकि ब्रह्माण्ड कैसे और क्या है ये जानकारी देने का भी प्रयास किया गया है। वैज्ञानिक तो अभी तक ग्रहों और उपग्रहों तक पहुँचने की प्रक्रिया में लगे हुए है। ध्यान देने की बात है कि ब्रह्माण्ड में अनेको ग्रह और उपग्रह है संपूर्ण आकाश है। सभी कुछ जो दृष्टव्य और आत्म-शक्ति द्वारा ज्ञातव्य है वह सभी ब्रह्माण्ड में है। लेकिन ब्रह्माण्ड स्वयं में कहाँ रुका हुआ है ? क्या ब्रह्माण्ड के बाहर भी आकाश है ? उस बाहर के आकाश की क्या सीमा है? यह कुछ ऐसे तर्क पूर्ण तथ्य हैं। इन्हें समझने और जानने के लिए जैन ग्रंथों दशर्नका सहारा भी किसी सीमा तक लिया जा सकता है। इस प्रकार के चिंतन में धर्म और विज्ञान एकाकार हो जाते हैं। धर्म दर्शन वह विज्ञान है जो हमारी भ्रांतियों को समाप्त कर देता है। विज्ञान भ्रांति जनित समस्याओं का समाधान करने में तत्पर है। तथ्यात्मक बात यह है की नये चिंतन के लिए धर्म आस्था रूपी उत्प्रेरक का कार्य करता है और विज्ञान चिंतित है भौतिकता को चिन्हित करने में रत है।

ब्रह्माण्ड में जितने भी ग्रह और उपग्रह है उन सबका गुरूत्वाकर्षण बल और व्यास अलग-अलग है तथा उनके वृत्ताकार मार्ग में परिक्रमा करने की परिधि भी अलग-अलग है। उनके परिक्रमा करने की परिधि का घेरा और उनके गोल होने का व्यास दोनों एक दूसरें के समानुपाति होते हैं अर्थात् उनके व्यास और परिक्रमा पथ के व्यास एक दूसरे के समानुपाति होते हैं। यही नहीं हर एक ग्रह के स्वयं में घुमने के समय और परिक्रमा

करने के समय दोनों भी एक दूसरे के समानुपाती होते हैं। हर ग्रह दूसरे ग्रह की गुरूत्वाकर्षणबल सीमा के अन्त होने की सीमा से उतनी दूर पर होता है जहाँ पर उस ग्रह की भी गुरूत्वाकर्षण सीमा समाप्त हो जाती है। गुरूत्वाकर्षण भी हर ग्रह की संहती अर्थात् उसके डील डोल में समाए उसके भार के समानुपाती होता है। पृथ्वी तल पर गुरूत्वाकर्षण बल 980 सेन्टीमीटर प्रति सेकिण्ड है तथा पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण बल 3200 किलोमीटर ऊपर आकाश में शुन्य हो जाता है और पृथ्वी के नीचे 6400 किलोमीटर पर भी गुरुत्वाकर्षण बल शून्य हो जाता है जो पृथ्वी के ध्रुवीय केन्द्र है। इस प्रकार दूसरे ग्रह का भी गुरुत्वाकर्षण उसी सीमा पर शुन्य होता हैं। आकाश में अनेकों शुन्य कक्ष बने हुए होने चाहिए।

पृथ्वी को पूरी तरह गोल न मानकर नारंगी की तरह गोल माना गया है। पृथ्वी अपनी धुरी पर 24 घंटे में एक चक्कर लगा लेती है इसके घूमने की दिशा पश्चिम से पूर्व की ओर है। पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमने के साथ-साथ एक परिपथ में भी घुमती हुई चलती है। इस परिपथ को अण्डाकार बताया गया है तथा सूर्य इसके मध्य में दर्शाया गया है। इस अण्डाकार परिपथ का पूरा चक्कर लगाने में पृथ्वी को 365.25 दिन लगते हैं। यह भी बताया गया है कि पृथ्वी अपनी धुरी पर तीस डिग्री कोण के लगभग झुकी हुई माना गया है जो इस प्रकार नहीं है अपितु पृथ्वी परिपथ के कक्ष के सूर्य पृथ्वी के परिपथ के बीच में नहीं है। अपितु लगभग बीच में सूर्य होता है। पृथ्वी का परिपथ कक्ष और सूर्य का परिपथ कक्ष आपस में समानांतर नहीं है। अपितु ये एक दूसरे के साथ लगभग तीस डिग्री का कोण बनाते हैं। माना गया है कि पृथ्वी अण्डाकार परिपथ में घूमती है और एक चक्कर पूरा करने में दो बार सूर्य से पृथ्वी की कम दूरी पर और दो बार अधिक दूरी पर होगी अतः एक वर्ष में दो बार गर्मी और दो बार सर्दी होगी। लेकिन ऐसा नहीं है। सूर्य का प्रकाश पृथ्वी पर लगभग आठ मिनट में पहुँचता हैं।

वैज्ञानिक सुलतान सिंह जैन
वर्धमान हॉस्पिटल, सिविल लाईन, रुडकी

11 आचार्य श्री कनकनंदी जी की शिक्षा पद्धति

प्रो. ब्र. कविता जैन, नागपुर

मैंने बाल्यकाल से स्कूल, कालेज में शिक्षा प्राप्त करके छः साल कालेज में पढाया और विभिन्न साधु संतों के चरण सानिध्य में अध्ययन किया। 16 फरवरी 1990 में आचार्य विद्यासागर जी से ब्रह्मचर्य व्रत लेकर वर्तमान में प्रायः डेढ वर्ष से आचार्य कनकनंदी जी गुरुदेव के संघ में अध्ययनरत हूँ। उस अनुभव के आधार पर मैं यह शोधपूर्ण लेख लिख रही हूँ। आचार्य श्री विद्यार्थी जीवन से अभी तक विद्यार्थी एवं शिक्षक रहें हैं। वे तेरह प्रदेशों के मुसलमान, जैन-अजैन लाखों स्कूल के बच्चों को, सैकडो शिक्षकों को, प्रोफेसर, वैज्ञानिक, विद्वान, पंडितों एवं स्वसंघ के 50–60 साधु आर्यिका माताजी, परसंघ आ. अभिनंदन सागरजी ससंघ, आचार्य विद्यासागर संघस्थ व आचार्य सन्मतिसागर 'ज्ञानानंद' संघस्थ ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणी आदि अनेक संघस्थ साधु-संत, आचार्यों को अध्ययन कराया एवं करा रहें हैं। वे श्वेताम्बर, दिगम्बर, तेरह-बीस आदि मतभेद, पंथभेद से परे रहकर व्यापक वैश्विक दृष्टिकोण से अध्यापन कराते हैं एवं जैन धर्म को राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से संगोष्ठी, साहित्य, लेख, अध्यापन के माध्यम से प्रचार-प्रसार कर रहें हैं। आचार्य श्री के प्रेरणा से स्थापित दो संस्थानो के विद्वान, प्रोफेसर, वकील, वैज्ञानिकों को आध्यात्मिक, उदारवादी, वैश्विक दृष्टिकोण से प्रशिक्षण दे कर विदेशों में धर्म प्रचार-प्रसार करवा रहे हैं। आचार्य श्री की शिक्षा पद्धति में अनेक विशेषताएँ हैं। उनमें से कुछ प्रमुख नीचे उल्लेखित कर रही हूँ।

(1) शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य सत्य का रहस्य उद्घाटित करना, उसे खोजना होता है। वह ज्ञान यहाँ हमें पंथभेद, मतभेद, जातिभेद सबसे हटकर बाहरी दिखावे से कोसों दूर गहराई से ज्ञान प्राप्त कराया जाता है जो उथला नहीं होता।

(2) यहाँ पर हर छोटे से छोटा कार्य वैज्ञानिक एवं गाणितीय पद्धति से सिखाया एवं स्वयं से करवाया जाता है।

(3) यहाँ हर कार्य को समान दर्जा प्राप्त है। कोई भी छोटा या बडा नहीं होता। हर पल-हर क्षण हमें अपनी भावनाओं को विशाल, व्यापक,

पवित्र एवं आदर्श जीवन बनाने की शिक्षा दी जाती है।

(4) यहाँ चारों अनुयोगों का अध्यापन कराते समय विषय वस्तु को आध्यात्मिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, राजनैतिक, गणितीय, ऐतिहासिक दृष्टिकोणों से प्रतिपादित किया जाता है जिससे विद्यार्थी का सर्वांगीण, वैश्विक विकास हो सके।

(5) यहाँ पर हर कार्य को संपूर्ण आत्मविश्वास, धैर्य, निष्ठा, ईमानदारी, सत्यग्राही बनकर समता पूर्वक अपने कर्तव्यों का पालन करने की शिक्षा मिलती है।

(6) यहाँ चिंता नहीं चिंतन के साथ हमारा आध्यात्मिक वैभव बढता है। आन्तरिक शक्ति एवं शांति का प्रसार विद्यार्थी के अन्तर्मन एवं अन्तःकरण में होने से उसका अन्तर्मन पवित्र, निर्मल, उज्ज्वल बनता है। उसके अन्तरंग में भक्ति के समूंद्र में निर्मल भावनाओं की तरंगे उछाल मारती है जिससे रचनात्मक कार्य संभव होते हैं। एवं ऐसे प्रस्फुटित वातावरण में विद्यार्थी पल्लवित होकर उत्तरोत्तर विकासोन्मुखी, गगनचुम्बि बनता है।

(7) यहाँ व्यवहारिक जीवन में उपयोगी शिक्षा मिलती है। जिससे हम अपनी भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति पर गौरव कर सके। जो हमें वैचारिक एवं आहार प्रदूषण से दूर रखकर विशुद्धता की ओर ले जाती है। जिससे हमारा स्वाभिमान गौरवान्वित होता है और हम आत्म निर्माण से युग निर्माण करने लगते हैं।

(8) यहाँ हमें हमेशा लक्ष्य श्रेष्ठ, दूरदर्शिता बनाकर उसपर कदम-कदम चलने की शिक्षा मिलती है। वे गुरु होते हुए भी हमें निर्देश, उपदेश, सुझाव कठोरता से नहीं विनय शीलता से अपनी चर्या/आचरण द्वारा हमें हमारी रुचि, योग्यता को ध्यान में रख कर ही शिक्षा देते है। और हर अच्छे कार्य के लिए हमें प्रोत्साहन, प्रेरणा के साथ पुरस्कार देकर हमारा आत्मबल बढाकर हमें और अधिक पुरुषार्थी प्रेक्टीकल जीवन जीने की शिक्षा देते है जिससे हमारे अन्दर, हमारे जीन में मानवीयता, नैतिकता, व्यवहारिकता, कर्तव्यनिष्ठता, अनुशासनशीलता, उदारवादिता, विनयशीलता, सहिष्णुता के गुणों की महक आ सके।

(9) हमें पहले स्वयं को आदर्शवान बनाना है क्योंकि व्यक्ति निर्माण, परिवार निर्माण, समाज निर्माण, देश निर्माण से ही हम समस्त विश्व में

क्रांति ला सकेंगे। यह व्यापक दृष्टिकोण हमें गुरुदेव हरपल अपनी शिक्षा प्रणाली से देते रहते हैं।

(10) हम यहाँ आत्म विश्लेषण करके अपने दुर्गुणों को सुगुणो में बदल सकते है। हमारी हर सोच यहाँ सकरात्मक होती है। आलस्य कोसो दूर खडा होता है और आत्म विश्वास पल-पल हमारा साथ निभाता है। हर क्षण हमारा प्रगतिशील होता है, सरलता सहजता हमारे कण-कण में समाहित हो जाती है। जैसे- जैसे हमारा अध्ययन बढता जाता है, वैसे-वैसे हम बालकवत् जिज्ञासु, लघु, विनयशील बनते जाते हैं। यहाँ के संस्कार बच्चों, किशोर, युवा, वृद्ध सब पर अपनी अमिट छाप छोडते हैं -

मनुष्य जीवन मीला है, आचार्य कनकनंदी की शिक्षा लेना सीखो।
सत्य अहिंसा ही सच्ची शिक्षा है, उसे जीवन में उतारना सीखो।।
आदमी बने हो तो बिना शिक्षा के जीवन मत जीओ।
जीवन में संघर्ष भी आये तो उसी में जीना सीखो।।

वे विद्यार्थी बडभागी है जो ऐसे गुरु की छत्रछाया में अध्ययन करते हैं। उनकी इन्हीं विशेषताओं से कुछ प्रोफेसर, वैज्ञानिक, विद्वानों ने रिटायर होकर गुरुचरणों में प्रशिक्षण, देश-विदेश में धर्म प्रचार-प्रसार का संकल्प किया है। 1) प्रो. प्रभात कुमार जैन, मुज्जफरनगर 2) प्रों. सुशील जैन, बडौत 3) वकील गुरुचरण जैन, मुंबई 4) महावीर प्रसाद जैन, कोटा 5) हुकुमीचंद संघवी, सलूम्बर 6) डॉ. नारायणलाल कच्छारा आदि। जो भी उदारमना, सत्याग्राही, समता पिपासु व्यक्ति अध्ययन करना चाहता है, अपना आत्म कल्याण कर विश्व कल्याण चाहता है; उसको मैं आह्वान करती हूँ - सभी जिज्ञासु, पिपासु जीवों का उदार हृदय से यहाँ स्वागत है, गुरुदेव का आशीर्वाद है।

उद्देश्य :- यह शोधपूर्ण लेख अपने अनुभव से लिखने का एक ही उद्देश्य है कि वर्तमान में जो लौकिक एवं धार्मिक अध्ययन-अध्यापन की शिक्षा पद्धति के समस्त दोषों का निराकरण हो। दुर्गुण सुगुण में बदलने से हमारे देश के बच्चों को योग्य शिक्षा प्राप्त होने से वे ही हमारे देश का उज्ज्वल भविष्य निर्माण कर सकेंगे।

12 मनुष्य एक विरोधाभाषी अवचेतन संवुष्टी प्राणी

प्राणी विज्ञान की अपेक्षा " मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है"; तो मनोविज्ञान की अपेक्षा " मनुष्य एक उत्कृष्ट मनवाला प्राणी है " (मनोत्कृष्ट मानवः), शरीर विज्ञान की अपेक्षा "मनुष्य एक उत्कृष्ट जटिल शरीर वाला प्राणी है"। भारतीय नृवंश शास्त्र के अनुसार "मनुष्य" मनु (समाज व्यवस्थापक) की संतान है। भारतीय धर्म - संस्कृति की अपेक्षा मनुष्य विश्व का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। क्योंकि मनुष्य ही परम पुरुषार्थ के माध्यम से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इतना ही नहीं जैन तीर्थंकर, गणधर, शलाकापुरुष, वैदिक धर्म के राम, कृष्ण आदि अवतार, बौद्ध धर्मानुसार महात्मा बुद्ध, ईसाई धर्मानुसार महात्मा ईसामसीह, मुसलमान के पैगम्बर मोहम्मद तथा जरस्थ्रुस, लाओत्से, कन्फ्यूसियस आदि भी अपने-अपने धर्मानुसार मानव शरीरधारी थे। पृथ्वी के समस्त ज्ञान, विज्ञान, सभ्यता, संस्कृति, भाषा, साहित्य, नियम, कानून, शिल्प, वाणिज्य, कला, शिक्षा, गणित का शोध-बोध प्रचार-प्रसार भी उपर्युक्त महात्मा पुरुषों के साथ-साथ अन्यान्य महापुरुषों ने किया है और करेंगे भी। इसी दृष्टि से यथार्थ से मनुष्य महान् है, ज्येष्ठ है, श्रेष्ठ है। "पुरु अर्थात् उदार/श्रेष्ठ गुणों से युक्त प्राणी को पुरुष कहा जाता है", इस परिभाषा के अनुसार जो सही सिद्ध होता है वह मनुष्य है, अन्यथा नहीं। परन्तु ऐसे महापुरुषों के कारण हर मानव महान् नहीं हो जाते हैं। मनुष्य की आयु, गति, योनी आदि के कारण जो मनुष्य जन्म, शरीरादि प्राप्त हुआ है, वह केवल द्रव्य मनुष्य है, मनुष्याकृति है। आत्मा से रहित मानव देह जिस प्रकार शव है उसी प्रकार उदार गुणों से रहित मानव भी मानवाकृति में दानव है। कहा है -

येषां न विद्या तपो न दानं, ज्ञानं न शीलं गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भार भुत्वा, मनुष्य रूपेण मृगाश्चरन्ति।।

अर्थात् जो मानव आध्यात्मिक विद्या, महान् कार्य के लिए पुरुषार्थ रूपी तप, स्व-परोपकार रूपी दान, सत्य का यथार्थ परिज्ञान, शील-सदाचार, विकास के कारणभूत गुण, वस्तुस्वभावात्मक धर्म से रहित है वह धरती के भारस्वरूप मनुष्याकार के पशु हैं।

आहार निद्रा भय मैथुनानी, सामान्यमेतत् पशुभीः नराणाम्।
ज्ञानं विशेषः खलं मानवानाम्, ज्ञानेन हिना पशुभिः मानवाः।।

आहार, निद्रा, भय, मैथुन तो पशु एवं मनुष्य में समान है। अर्थात् आहार

आदि के कारण मनुष्य पशु से पृथक् या श्रेष्ठ नहीं हो जाता है। हिताहित विवेक रूपी आत्मज्ञान ही मनुष्य की विशेषता है जो मनुष्य को पशु से पृथक् करती है। ऐसे ज्ञान से रहित मनुष्य वस्तुतः पशु है।

हिताहित जाने नहीं मानव बिना विवेक।
सींग पुच्छ बिन बैल है भगिनी भाविनी एक।।

आध्यात्मिक दृष्टि से जो पशु सम्यग्दृष्टि है उसका आध्यात्मिक सोपान (गुणस्थान) चौथा है तथा जो पापों को प्रतिज्ञा पूर्वक यथायोग्य आंशिक रूप से त्याग करते हैं उनका गुणस्थान पांचवा है। अतः ऐसे पशु तो मिथ्यामान्यता, अविवेकी तथा सद्व्यवहार से रहित मनुष्यों से अतिश्रेष्ठ है, क्योंकि ऐसे अन्धश्रद्धा, अविवेक, गलत आचरणों से युक्त मनुष्यों के समस्त आस्था, ज्ञान एवं व्यवहार भ्रमपूर्ण, असत्य, विरोधाभाषी, अवचेतन संतोषी, स्व-पर अहितकारी होतें हैं।

जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु की भयंकर गर्मी में प्यासा मृग, मृगमरीचिका को यथार्थ पानी मानकर उससे प्यास बुझाने के लिए, उसको प्राप्त करने के लिए दौडता है परन्तु जितना ही वह आगे दौडता है उतना ही वह मृगमरीचिका आगे बढ जाती है जिससे वह मृग थका-मांदा, प्यासा एवं निराशा से मर जाता है; उसी प्रकार से मनुष्य अयथार्थ को मोहवश, अज्ञानता के कारण भ्रम से यथार्थ मानकर उसे प्राप्त करना चाहता है। जिससे वह संक्लेश, निराशा आदि के कारण पल-पल मरता रहता है। अथवा जैसा कि एक लोमडी ऊपर लगे हुए मीठे-मीठे पके अंगुर को खाने के लिए बहुत उछल-कुद करने के बाद भी जब अंगुर प्राप्त नहीं कर पाती है तब वह अवचेतन संतुष्टी कर लेती है कि छोडो अंगुर खट्टे हैं, कौन खायेगा ! दूसरों को भी अपनी असफलता का बखान न करके कहती फिरती है कि अरे ! ऐसे खट्टे अंगुर कौन खाकर गला, मुँह, शरीर खराब करे ! ऐसे अंगुर खाने से तो अच्छा है अंगुर ही नहीं खाना या भूखा रहना। ऐसी प्रवृत्ति, मनोवृत्ति को ही मनोविज्ञान में ''अवचेतन संतुष्टी'' कहा जाता है। इसमें अपनी कमियों को अपनी कमियाँ न मानकर दूसरों के ऊपर जबरदस्ती थोप दिया जाता है । अधिकांश मनुष्यों की मनोवृत्ति एवं प्रवृत्ति उपर्युक्त दोनों घटनाओं के समान होती है। कुछ विशेष विषयों के माध्यम से इस का स्पष्टिकरण निम्न में कर रहा हूँ।

1) सुख संबंधी विरोधाभाषी अवचेतन संतुष्टी

सुख प्रत्येक जीव का स्वभाव होने से सुख प्राप्त करने की इच्छा होना प्रत्येक जीव की सहज प्रवृत्ति है। सुख प्राप्त करना प्रत्येक जीव का कर्तव्य है, धर्म है, अधिकार है। सुख जीव का स्वभाव होने से, स्वभाव को जीव जितना-जितना

सहज-सरल, पवित्र, सादा-सीधा करता जायेगा वह उतना-उतना सुख का अनुभव करता जाऐगा परन्तु मनुष्य सुख के लिए दूसरों को कष्ट देता है, खोटा भाव करता है, फैशन-व्यसनों का सेवन करता है, धोखा-धडी, लंद-फंद करता है, कषाय युक्त आडम्बर पूर्ण अप्राकृतिक जीवन जीता है। यदि इससे सुख प्राप्त होता तो रावण, कंस, हिटलर, डाकू, चोर, आतंकवादी आदि सुखी पाये जाते और जो सुख के लिए सत्ता, सम्पत्ति आदि को त्यागकर सर्वसन्यासी बने ऐसे तीर्थंकर, ऋषि, मुनि, आदि दुःख को प्राप्त करते। सत्ता, संपत्ति, फैशन-व्यसन से यदि सुख मिलता है तो गृहस्थावस्था में तीर्थंकरों के पास जो सत्तादि थी उसको और भी वृद्धि करते परन्तु वे तो तीन प्रकार के सम्यग्ज्ञान के धारी होते हुये भी उन उन्होंने वैभवादि को त्यागा, ध्यान- अध्यनादि के माध्यम से स्वयं को पवित्र किया, जिससे उन्होंने अक्षय, अनन्त ज्ञान, सुख, वीर्यादि को प्राप्त किया। जो मनुष्य फैशन-व्यसन, भोग-विलासपूर्ण संक्लेशमय जीवन से स्वयं को सुखी मानता है या जताता है वह विरोधाभासी अवचेतन संतुष्टी वाला मनुष्य है जिनकी दशा उपर्युक्त मृग एवं लोमडी के समान है।

2) धर्म संबंधी विरोधाभाषी अवचेतन संतुष्टी

वस्तु के स्वभव या सद्भाव एवं सद्व्यवहार अथवा अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह, क्षमा, मृदुता, सरल-सहजता, पवित्रता, संयम, परोपकार, सेवा आदि वस्तुतः धर्म है। ''यो धरति उत्तम सुखे सः धर्मः'' के अनुसार जिससे उत्तम सुख प्राप्त हो वह धर्म है या जो सदा-सर्वदा धारण करने के योग्य है वह धर्म है। ऐसे धर्म के लिए जो साधनभूत बाह्य कारण यथा आरधना, पूजा, प्रार्थना, रीति-रिवाज, पंथ-परम्पपरादि हैं वह सब यथार्थ से धर्म नहीं है। जैसा कि पानी का पात्र यथार्थ से पानी नहीं है परंतु पानी के लिए आधार है। पात्र कितना भी सुंदर, बहुमूल्य, योग्य एवं बडा भी क्यों न हो उससे कभी भी प्यास बुझाना आदि पानी का कार्य या फल नहीं हो सकता है। वैसा ही उपर्युक्त धर्म से रहित जो भी धार्मिक आराधनादि है उससे धर्म के फल स्वरूप सुख-शांति आदि नहीं मिल सकती है। परंतु अधिकांश व्यक्ति यथार्थ धर्म से रहित होकर व धार्मिक रीति-रिवाज को येन-केन प्रकार से उल्टा-सीधा पालन करके स्वयं को धार्मिक मानता है और जताता है। इतना ही नहीं जो उसके समान उस रीति-रिवाज को पालन नहीं करता है परंतु यथार्थ से धार्मिक भी है उसे भी वह अधर्मी, अधर्मी, धर्मबाह्य, नास्तिक, काफिर, मिथ्यादृष्टि मानता है, बोलता है, उसका विरोध करता है, ईर्ष्या-द्वेष करता है। यहाँ तक कि हत्या करके भी स्वयं

को सच्चा धर्मिक मानता है। ऐसे सभी मनुष्य विरोधाभाषी अवचेतन संतुष्टी वाले प्राणी है।

3) व्यवहार सम्बन्धी विरोधाभाषी अवचेतन संतुष्टी

"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" अर्थात् जो व्यवहार आप स्वयं के लिए नहीं चाहते हो वैसा व्यवहार दूसरों के लिए भी नहीं करना चाहिए, जैसा कि कोई भी स्वयं के लिए कष्टप्रद, अपमानजनक, हानिकारक व्यवहार नहीं चाहते हैं तो ऐसा व्यवहार भी दूसरों के लिए नहीं करना चाहिए। क्योंकि पूर्व में भी वर्णन किया गया है कि प्रत्येक जीव का स्वभाव सुखमय होने के कारण प्रत्येक जीव सुख चाहता है, सुख में प्रसन्न होता है और दुःख नहीं चाहता है, दुःख से आकुल-व्याकुल, संतप्त होता है।

क्रिया-प्रतिक्रिया सिद्धान्त, कर्म सिद्धान्त, कार्य-कारण सम्बन्ध के अनुसार जो दिया जाता है वही प्रत्यक्ष परोक्ष से संवर्धित होकर प्राप्त होताहै। "जैसा बोओगे वैसा पाओगे" के अनुसार आम के बीज बोने से आम के वृक्ष बनकर आम के फल प्राप्त होगें तो बबुल का बीज बोने से कांटे, परन्तु अधिकांश मनुष्य "आप खावे काकडी दूसरों को देवे आंकडी" "दूसरों को ठगो मक्कर से रोटी खाओ घी शक्कर से" "आपको लगे दिल से दूसरों को लगे दिवाल से" के अनुसार स्वयं के लिए तो अच्छे से अच्छा व्यवहार चाहते हैं परन्तु दूसरों के साथ वैसा व्यवहार नहीं करते हैं। कुछ उदाहरण से उपर्युक्त विषय का स्पष्टीकरण निम्न में कर रहा हूँ।

एक लोमडी के गले में एक हड्डी बुरी तरह फंस गई थी; जिससे लोमडी को बहुत कष्ट हो रहा था। उसकी पीडामई प्रार्थना से एक राजहंस ने दयावशात: अपनी चोच से गले में फंसी हुई हड्डी निकाल दी। उसके बाद लोमडी कृतघ्नता पूर्ण व्यवहार करके बोलती है रे हंस ! मुझसे अधिक दयालु कौन हो सकता है? क्योंकि मैंने दया के कारण मेरे मुहँ में तेरी गर्दन होने पर भी तुझे नहीं खाया। अतः तुम यह मत सोचना और दूसरों को मत कहना कि मैंने दया करके लोमडी की गले में फंसी हड्डी को निकाला है। परन्तु यह कहना कि लोमडी की दया से मुझे जीवन दान मिला है। और एक उदाहरण से विषय का स्पष्टीकरण कर रहा हूँ। एक नदी के ऊपर भाग में गेंडा पानी पी रहा था और मध्य में भैसा तथा नीचे के भाग में बैल पानी पी रहा था। भैंसा को यह मालुम होते हुए भी के गेंडा के कारण ऊपर से पानी गंदा आ रहा है (गंदा पानी भी पीना उसकी आदत है) तथापि वह बैल को दुर्बल जानकर एवं गेंडा को शक्तिशाली जानकर बैल के पास

जाकर ललकारते हुए कहता है कि अरे ! दुष्ट-मुर्ख बैल तुझे मालुम नहीं है कि मैं पानी पी रहा था और तू पानी को गंदा करके मेरे पास छोड रहा था।

एक बार चालनी सूई को बोलती है कि अरे ! बहिन तेरे पोंद में एक छेद है। सूई बोलती है अरे! बहिन मेरे एक छेद देखने के पहले तुम्हारे पौंद में जो सैकडो छेद हैं उसको भी देख लेती । इसीलिए नीतिकारों ने कहा है - "परोपदेश कुशल बहुतेरे जो आचरई ते नर न घनेरे"।

जोहन्स ऑफ आर्क के प्रभाव से भयभीत एवं ईर्ष्या से उसकी हत्या उसके देश के राजन्य वर्ग ने षडयत्रणा से करदी । बाद में उसकी स्मृति में उसकी मूर्ति स्थापना, सम्मान सभाके आयोजन आदि होते रहे। इसी प्रकार के व्यवहार ईसामसीह, सुकरात, पायथागोरस, महापुरुष, साधु-संत, गुरुजन, गुणीजन, माता-पिता के साथ भी होता रहता है। "जिन्दा बाप से लट्ठमलट्ठा मरे हुए को पहुँचावे गंगा" "प्रत्यक्ष मारते गावः गोमेयष्वऽपि पूज्यते" ऐसे ही अनेक चिर कटु अनुभव से निसृत नीति वाक्य हैं। माता-पिता, गुरु, गुणीजनों की जीवित अवस्था में रोग, असाध्य, दुर्बल, संकट, अकेलापन में भी सेवा सुश्रुशा, व्यवस्थ साह्यता समुचित नहीं करेंगे परन्तु मृत्यु के बाद दाह संस्कार, मृत्यु भोज, श्राद्ध, तर्पण, स्मरनार्थ दान, पूजा आदि करेंगे, छत्री, पादुका, संस्थादि निर्माण करेंगे, फोटो छपायेंगे, उपकरण बाटेंगे। यह सब आडम्बर, ढोंग, पाखण्ड, विरोधाभासी अवचेतन संतुष्टी है। मूर्ति पूजा तीर्थयात्रा में भी प्रायः अधिकांश व्यक्ति ऐसी मनोवृत्ति से प्रवृत्त होते है। जिस महपुरुषों की मूर्ति की पूजा करते हैं उन महापुरुषों के आदर्श का न तो स्मरण करते हैं न गुणानुवाद करते हैं और सर्वोपरी जो गुणाणुकरण करने योग्य है वह तो करते ही नहीं हैं। तथापि उनके भक्त अनुयायी, पट्टधर, वंशधर, समर्थक मानेंगे और बतायेंगे। यह सब आचरण "मुँह में राम बगल में छुरी" के समान या "पानी पीयेंगे छानकर जीव मारेंगे जानकर" या "दिन के साहूकार रात के चोर" के समान हैं।

इन सब विरोधाभीसी अवचेतन संतुष्टि के कारण मनुष्य का सर्वांगीण, सर्वोदय विकास नहीं होता है, विरोधाभास के कारण मनुष्य सत्य-असत्य, हित-अहित, करणीय-अकरणीय, हेय-उपादेय, योग्य-अयोग्य, असली-नकली में स्पष्ट भेद नहीं कर पाता है जिससे वह सत्य, हित, करणीय, उपादेय, योग्य असली को ग्रहण करने में एवं असत्य, अहित, अकरणीय, हेय, अयोग्य, नकली को त्याग करने में असमर्थ होता है। अवचेतन संतुष्टि के कारण वह स्वयं की कमियों को एवं गलतियों को पूर्णता तथा अच्छाइयाँ मान लेता है जिससे वह

कमियों को दूर करके पूर्णता को तथा गलतियों को दूर करके अच्छाईयों को प्राप्त नहीं कर पाता है। इन कारणों से मनुष्य में सत्य निष्ठा, पवित्रता, सरलता-सहजता, कर्तव्यनिष्ठा, प्रगतिशीलता, गुण ग्राहकता आदि गुण नहीं आपाते हैं। विरोधाभासी अवचेतन संतुष्टि को आध्यात्मिक दृष्टि से मोह, भ्रम, मिथ्या, मिथ्यात्व, अंधश्रद्धा, आभास से युक्त ज्ञान एवं आचरण (अविरति, प्रमाद, कषाय, लेश्या) कहते हैं।

4) आधुनिकता, प्रगतिशीलता की विरोधाभासषी अवचेतन संतुष्टी

परिवर्तन होना, नवीन अवस्थाओं को प्राप्त करना, प्रगति करना प्रत्येक द्रव्य का वस्तुगत स्वभाव है। अतएव मनुष्य में यह गुण होना स्वभाविक है। द्रव्य, क्षेत्र, काल(आधुकि समय), भाव के अनुसार जो परिवर्तन होता है, कार्य होता है, उसे जैन धर्मानुसार स्वचतुःष्टय कहते हैं। प्रबुद्ध गुणग्राही, प्रगतिशील व्यक्ति अन्य के अच्छे गुणों के अनुकरण से सहज-सरलता से अतिशीघ्र प्रगति करते हैं। क्योंकि शिक्षा के विभिन्न आयामों से प्रायोगिकरण से सीखना सब से सरल एवं प्रभावी आयाम है। इस कारण से मातृभाषा, पारंपारिक सभ्यता, रीति-रिवाज आदि को मनुष्य स्कूल कॉलेज आदि के प्रशिक्षण के बिना सहज-सरलता से शीघ्र सीख लेता है। परंतु विवेक रहित होकर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के प्रतिकूल आधुनिकता या प्रगतिशीलता के नामपर दूसरों का अंधानुकरण करके स्वयं को मॉर्डन, बोल्ड, अपटूडेट मानना-जताना यह सब विरोधाभसी अवचेतन संतुष्टि है यथा-हीरो-हीरोइन(जीरो-जीरोइन) को न ज्ञान,विज्ञान,सभ्यता, संस्कृति, आध्यात्मिक, राष्ट्रीयता, सामाजिकता का न ज्ञान है, न भान है, न आचरण है तथापि वे आधुनिकता के अग्रदूत, राष्ट्र के महान्, राजनेता, धर्मगुरु, सामाजिक कार्यकर्ता, राष्ट्र रक्षक, समाज सेवा का भी नाटकीय अभिनय करते हैं और दूसरें भी उन्हें यथार्थ से उसी प्रकार स्वीकार करके उनका अंधानुकरण करके स्वयं को भी आधुनिक, प्रगतिशील मानते हैं। अश्लील ड्रेस, अभद्र-व्यवहार, असामाजिक सोच-विचार, तुच्छ कामुक गाना-डायलॉग, हिंसात्मक-दिखावा पूर्ण राजसी थाट-बाट, रहन-सहन, फैशन-व्यसन, राष्ट्र विरोधी कार्य कलाप में लिप्त रहते हैं, उसी प्रकार के अभिनय करते हैं तथापि उन्हें दूसरे सामान्य नागरिक से लेकर विद्यार्थी, सैनिक, उद्योगपति, राजनेता, राजनैतिक दल अपना फेव्रीक रोल मॉडल, आदर्श, गुरु यहाँ तक कि पूजनीय मान लेते हैं, उन की मूर्ति स्थापना करके पूजा करते है।

कुछ लोग स्कूल, कॉलेज में रट रटैया एकाध विषय पढकर एकाध डिग्री फर्जी से भी प्राप्त करके अनैतिक फैशन - व्यसन - आचरण करके स्वयं को

आधुनिक, शिक्षित/प्रगतिशील मानते हैं और जताते भी हैं। कुछ लोग नगर में रहने मात्र से ही स्वयं को आधुनिक/प्रगतिशील मान लेते हैं भले वे आधुनिकतादि के ए.बी.सी. से भी अपरिचित क्यों न हो। कुछ आधुनिक वैज्ञानिक उपकरणों यथा- मोटर, टी.वी.,फोन,गॉगल्स,ड्रेस आदि के प्रयोग मात्र से स्वयं को आधुनिक मान लेते हैं भले उस उपकरणादि के सिद्धान्त, निर्माण, रिपेयरिंग आदि से अनभिज्ञ भी क्यों न हो। एक व्यक्ति आधुनिक ड्रेस, गॉगल्स आदि पहनकर एक समाचार पत्र को उल्टा पकडकर पढने वाली मुद्रा में बैठा हुआ था। क्योंकि वह निरक्षरी मूर्ख होने के कारण उसे मालुम ही नहीं पडता कि समाचार पत्र किधर सीधा है और किधर उल्टा है। इसी प्रकार प्रायः अधिकांश व्यक्ति ज्ञान-विज्ञान, सोच-विचार, वचन, व्यवहार आदि से असभ्य, अभद्र, पिछडा, अवैज्ञानिक होते हुए भी स्वयं को आधुनिक / प्रगतिशील मानते हैं, दिखावा करते हैं। वे सब विरोधाभासी अवचेतन संतुष्टी वाले प्राणी हैं।

5) मनोरंजन/खेल की विरोधाभाषी अवचेतन संतुष्टी

किसी भी राष्ट्र का विकास उस राष्ट्रकी जनता के उत्तम स्वास्थ्य, सुसंस्कार, सदाचार, सुशिक्षा, सुरक्षा, भोजन-पानी, आवास, यातायात एवं संचार व्यवस्था आदि के साथ-साथ स्वस्थ मनोरंजन के ऊपर निर्भर है। स्वस्थ मनोरंजन से तनाव, थकानादि दूर होते हैं मित्रता, एकता आदि बढती है। जैसा कि बच्चों का सरल-सहज खेल कूद या उत्तम संगीत, नाटक, सिनेमा, टी.वी. कार्यक्रम आदि। परंतु उत्तम स्वास्थ्य, सुसंस्कार आदि के बिना मनोरंजन का महत्व कम होता है या अनावश्यक होता है या कभी कभी विपरीत या विनाश/विध्वंस/ तनाव का कारण बनता है। उदाहरण के तौर पर अश्लील सिनेमा, गाना आदि तथा भारत पाकिस्तान मैच आदि। क्योंकि अश्लील सिनेमा आदि से कुसंस्कार पडता है, तन-मन-धन-समय नष्ट होता है, हिंसा-चोरी-कामुकता-बलात्कार-फैशन-व्यसन आदि में वृद्धि होती है। भारत एवं पाकिस्तान अभी भी आर्थिक, शैक्षणिक, वैज्ञानिक, स्वास्थ्य की दृष्टि से पिछडे देश हैं। इतना ही नहीं दोनों देश के मध्य में अन्तरंग में कटुता, शत्रुता, तनाव का भाव है, इसलिए दोनों देशों को पहले अपनी-अपनी भूलों को, कमियों को दूर करना चाहिए फिर स्वस्थ मनोरंजन एवं खेल प्रतियोगिता में भाग लेना चाहिए। क्योंकि दोनों देश के मध्य में जब खेल होता है उस समय दोनों देशों के अधिकांश खिलाडी से लेकर नागरिक, राजनेता यहाँ तक कि बच्चे भी खेल-प्रिय न रहकर खल-प्रिय बन जाते हैं, खेलमैदान युद्ध

मैदान बन जाता है। जिस देश की टीम हार जाती है उस देश को ही हारा हुआ मान लिया जाता है और वह देश स्वयं हीन-ग्रंथी से ग्रसित हो जाता है। दूसरा देश अहं-ग्रंथी से ग्रसीत हो जाता है। इसके साथ-साथ भारत-पाकिस्तान जैसे गरीब देश में नट-नटी (सितारे), खिलाडियों के लिए जो धन, मान, सम्मान, प्रसिद्धि, प्रचार-प्रसार, विज्ञापन, महत्व मिल रहा है यह सब यथार्थ नहीं है। इससे विद्यार्थी से लेकर नेता तक स्व कर्तव्य छोटा-खोटा महत्व हीन मानते हैं और दूसरे भी ऐसा ही मानते हैं। विद्यार्थी का आदर्श गुरु, माता-पिता, गुणीजन न होकर खिलाडी, हीरो-हीरोइन हो जाते हैं। ज्ञानार्जन या कोई महान् उद्देश्य न होकर खेल-खिलाडी, हीरो-हीरोइन का अन्धानुकरण हो जाता है। इसी प्रकार राजनैतिक नेता बनने के लिए जो राष्ट्रभक्ति, निस्वार्थ सेवा, पुरुषार्थ, दूरदृष्टि- सम्पन्नता, साहस, धैर्य, प्रामाणिकता आदि गुण चाहिए उसके अभाव से या विपरीतता से भी केवल इन तथाकथित हीरो आदि से किसी भी प्रकार के राष्ट्र के विकास सम्भव नहीं है। परन्तु अभी तो ये हीरो केवल छोटे या बडे पर्दे के नायक ही नहीं परन्तु वे नागरिक से लेकर राजनीति, उद्योगपति, राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, चुनाव प्रचार, विज्ञापन संसार, शादी-विवाह, धार्मिक कार्यक्रम के केवल अभिनेता ही नहीं अभिराम नेता से लेकर महामहिम महानेता हैं। इस प्रकार की प्रवृत्ति से वास्तविकता, गुणवत्ता ओझल हो जाती है। मेरा भारत के तेरह प्रदेशों का ग्राम से लेकर महानगर तथा शिक्षित से लेकर अशिक्षित हर विधा के लाखों व्यक्तियों का अनुभव है कि वे उपर्युक्त हीरो-हीरोइन के बारे में कटु-अनुभव करते हुए भी वे संगठित रूप से इन दुष्प्रवृत्तियों को दूर करने के लिए कोई क्रांतिकारी कदम नहीं उठाते हैं। यह प्रवृत्ति भी विरोधाभाषी अवचेतन संतुष्टी है। इसलिए अनेक आध्यात्मिक महापुरुषों ने यह कटु अनुभव करके कहा है कि जिस विषय में ज्ञानी जागते हैं उस विषय में अज्ञानी सोते हैं एवं जिस विषय में अज्ञानी जागते हैं उस विषय में ज्ञानी सोते हैं। जैसा कि जिस तामसिक भोजन को तामसिक लोग खाते हैं उस भोजन को सात्विक लोग ग्रहण नहीं करते हैं।

अनुभव कणिकायें

1) मान-प्रतिष्ठा, स्वर्गादि वैभव की चाह से लाखों के दान करने वाले दुर्बल, असहाय, गरीब, बाल, मजदूर स्त्री, भोले भाले व्यक्तियों का शोषण करेंगे उनका न्यायोचित धन, धरोहर, मजदूरी, अधिकार आदि नहीं देगें।

2) आनुसांगिक एकेन्द्रिय जीव, कीट-पतंग की हिंसा से बचने का ढोंग करने वाले भी भाव हिंसा, चोरी, झूठ, कूट-कपट, कषाय, शोषण, मिलावट आदि करते हुए

स्वयं को अहिंसक, धार्मिक मानते हैं।

3) सत्य-तथ्य को जानते हुए भी स्वार्थ या द्वेषादि के कारण कुतर्क, बाह्य साक्ष्य के बहाने से, पक्षपात से सत्य को असत्य, न्याय को अन्याय कहकर स्वयं को सत्यनिष्ठ, न्यायधीश कहलाते हैं।

4) मद्य, मांस, मादक वस्तु के उत्पादन से राष्ट्र का विकास मानना विरेधाभाषी अवचेतन संतष्टी है। इस प्रकार के कार्य करने वाले व्यक्ति भी यदि स्वयं को धार्मिक मानता है वह भी अवचेतन संतुष्टी में है।

उपर्युक्त विषय को आध्यात्मिक दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययने के लिए कुछ विषय मैं उद्धृत कर रहा हूँ।

संसारमुलहेदुं मिच्छंत्तं सव्वदा विवज्जेहि।
बुद्धि गुणण्णिद पि हु मिच्छत्तं मोहिदं कुणदि। भ.आ. *723*

मिथ्यात्व संसार का मूल कारण है उसका मनवचनकाय से त्याग करो क्योंकि मिथ्यात्व गुणयुक्त बुद्धि को भी मूढ बना देता है। सूत्रकारने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है - मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बंध के कारण हैं। यहाँ उन्होंने बन्ध के कारणों में मिथ्यात्व को प्रथम स्थान दिया है और बन्धपूर्वक संसार होता है। वह पदार्थ को यथार्थ रूप से जानने का गुण रखने वाली बुद्धि को भी विपरीत कर देता है। सुनने की इच्छा, सुनना, ग्रहण करना और धारण करना आदि बुद्धि के गुण हैं। ऐसी गुण युक्त बुद्धि को भी मिथ्यात्व विपरीत कर देता है।

मयतण्हियाओ उदयत्ति मया मण्णंति जह सतण्हयगा।
तहा य णरा वि असद्भूदं सद्भूदं ति मण्णंति मोहेण। *724*

सूर्य की किरणें पृथ्वी की उष्मा से मिलकर जल का भ्रम उत्पन्न करती हैं उसे मृग-तृष्णा कहते हैं। जैसे प्यास से पीडित मृग उसे पानी जानते हैं वैसे ही मनुष्य भी दर्शनमोह के कारण अतत्त्व को भी तत्त्व जानता है।

मिच्छत्तमोहणादो धत्तुरयमोहणं वरं होदि।
वड्ढेदि जम्ममरणं दंसणमोहो दु ण दु इदरं।। *726*

मिथ्यात्व के उदय से उत्पन्न हुए मोह से धतूरे के सेवन से उत्पन्न हुआ मोह(मूर्च्छा) उत्तम है; क्योंकि दर्शनमोह से उत्पन्न मोह नाना योनियों में जन्म-मरण को बढाता है किन्तु धतूरे के सेवन से उत्पन्न हुआ मोह जन्म-मरण की परंपरा नहीं बढाता। अतः कुछ दिनों के लिए मोह उत्पन्न करने वाले धतूरे के मद से अनन्त काल के लिए विपरीत बुद्धि करने में समर्थ मिथ्यात्व का मोह अत्यन्त बुरा

है। अतः जन्ममरण की परंपरा से भीत आपको मिथ्यात्व को त्याग देना चाहिए।

कडुगम्मि अणिव्वलिदम्मि दुद्धिए कडुगमेव जह खीरं।
होदि णिहिदं तु णिव्वलियम्मि य मधुरं सुगंधं च।। *732*

जैसे अशुद्ध कडुवी तुम्बी में रखा दूध कटुक ही होता है और शुद्ध तुम्बी में रखा दूध मीठा तथा सुगंन्धित होता है।

तह मिच्छत्तकडुगिदे जीवे तवणाणचरणविरियाणि।
णासंति वंतमिच्छत्तम्मि य सफलाणि जायंति।। *733*

वैसे ही मिथ्यात्व से दूषित जीव में तप, ज्ञान, चारित्र, वीर्य ये सब नष्ट हो जाते हैं क्योंकि सम्यक् रूप नहीं होते। समीचीन तप, ज्ञान, चारित्र और वीर्य मुक्ति के उपाय हैं, केवल तप आदि मात्र मुक्ति का उपाय नहीं हैं, और समीचिन तपादि श्रद्धा के बल से ही होते हैं। श्रद्धा के अभाव में नहीं होते। अतः मिथ्यात्व को दूर करने वाले जीव में तप आदि सफल होते हैं। तपका फल सांसारिक सुख अथवा मोक्ष सुख है।

णगरस्स जह दुवारं मुहस्स चक्खु तरुस्स जह मूलं।
तह जाण सुसम्मत्तं णाणचरणवीरियतवाणं।। *735*

जैसे नगर में प्रवेश करने का उपाय उसका द्वार होता है वैसे ही ज्ञान, चारित्र, तप, वीर्य का द्वार सम्यक्त्व है। यदि जीव सम्यक्त्व रूप से परिणत होता है तो वह ज्ञानादि में प्रवेश कर सकता है। सम्यक्त्व के बिना ज्ञानादि में प्रवेश नहीं है। सम्यक्त्व के बिना जीव सातिशय अवधि ज्ञानादि, यथाख्यातचारित्र अथवा बहुत निर्जरा में निमित्त तप को प्राप्त नहीं कर सकता। तथा जैसे नेत्र मुख को शोभा प्रदान करते हैं वैसे ही सम्यक्त्व से ज्ञानादि शोभित होते हैं। तथा जैसे जड वृक्ष की स्थिति में कारण है वैसे ही सम्यक्त्व ज्ञानादि की स्थिति में निमित्त है।

जह कंटएण विद्धो सव्वंगे वेदणुद्धुदो होदि ।
तम्हि दु समुट्ठिदे सो णिस्सल्लो णिव्वुदो होदि।। *538*

जैसे कंटक से विधा हुआ सर्व शरीर में पीडा से पीडित होता है और उस कण्टक के निकल जाने पर वह दुःखी मनुष्य शल्य से रहित सुखी होता है।

एवमणुदधुद्दोसो माइल्लो तेण दुक्खिदो होइ।
सो चेव वंददोसो सुविसुद्धो णिव्वुदो होइ।। *539*

उसी प्रकार जो काँटे की तरह दोष को नहीं निकालता वह मायावी अपने अपराध को न कहने रूपी दुःख से दुःखी रहता है। और वही दोष को प्रकट करने पर विशुद्ध होकर सुखी होता है।

देश-विदेश के साहित्यों के अध्ययन से तथा वर्तमान की अनेक घटनाओं से सिद्ध होता है कि अधिकांश व्यक्ति अपनी गलतियों को सही सिद्ध करते हैं। एक राजा अपनी सुन्दरी युवती पुत्री से मोहित होकर राज सभा में छद्म (कुटिलता) से पूछता है कि "हमारे देश की अच्छी वस्तु का मालिक कौन होता है"? कुछ सभासदों ने कहा उस अच्छी वस्तु का स्वामी राजा है, और कुछ विद्वानों ने कहा कि अपनी पुत्री आदि अगम्या स्त्री एवं परवस्तु आदि को छोडकर राज्य की वस्तु का स्वामी राजा होता है। मोही राजा हिताहित विवेक से रहित होकर स्वपुत्री के साथ बलपुर्वक विवाह कर लेता है। एक विधवा स्त्री वर्षा की रात को जार पुरूष से कामेच्छा पूर्ति के लिए जा रही थी। रास्ते में एक युवक के साथ भेट होती है और दोनों कामेच्छा पूर्ण करने में लगते हैं। विद्युत के प्रकाश में दोनों एक दूसरों को पहिचानते हैं और दोनों मां- बेटा थे। तथापि ऐसे अनैतिक सम्बन्ध के लिए वे दोनों आगे भी रात को उस एकान्त स्थान में जाते रहे परन्तु परस्पर को जानते हुऐ भी वे एक दूसरों से अपरिचित सा रहे और वे परस्पर के मां- बेटा के सम्बन्ध के बारे में कुछ भी नहीं कहे। वे अवचेतन सतुष्टी में रहे कि वे मां-बेटा नहीं हैं परन्तु प्रेमी युगल हैं। यह प्रवृत्ति शुतुरमुर्ग के समान है। शुतुरमुग स्वयं का शिर रेत में छिपाकर सोचता है कि मुझे कोई नहीं देखता है या रेत की आंधी से मेरी रक्षा इससे हो जाऐगी। अथवा जैसा कि बिल्ली आँख मूँद कर दूध पीती है और सोचती है मुझे कोई नहीं देख रहा है। परन्तु जब दण्डा पडता है तो नानी याद आती है। "चोर को कहना कि चोरी करो और कोतबाल को कहना है कि जगते रहो यह भी चालबाज छद्म नीती है। "जानामि धर्म न मे भजामि, जानामि अधर्म न में त्यजामि" अर्थात् "मैं धर्म को जानता हूँ परन्तु धर्म नहीं करूँगा तथा अधर्म को जानता हूँ परन्तु अधर्म नहीं छोडूगा" यह नीति तथा प्रवृत्ति दुर्योधन रावण से लेकर चोर, डाकू, आतंकवादी से लेकर अधिकांश मनुष्यों की होती है। मनुष्य जब स्वयं समस्या, कष्ट, आवश्यकता का अनुभव करता है तो वह दूसरों से सहायता चाहता है। परन्तु जब उसकी समस्यादि का समाधान हो जाता है तब वह दूसरों की समस्यादि के समाधन में तो सहयोग नहीं करता हैं। स्वयम् दुसरों के लिए समस्या बन जाता है या उत्पन्न करता है। उदारण के लिए जैसा कि कोई उम्मीदवार नेता चुनाव के समय में चुनाव रूपी महासंग्राम में जीतने के लिए जनता का सहयोग लेता है और सहयोग के बदले में जीतने पर उनकी सेवा, सुरक्षा, समृद्धि करने का वचन देता है। परन्तु जीतकर के मंत्री आदि बनने के बाद सेवादि के बदले में जनता का शोषण, अपमान, असुरक्षा आदि करके रक्षक के परिवर्तन में भक्षक, समस्या, आंतक स्वरूप बन जाता है।

ऐसा ही अन्यान्य क्षेत्र में होता है। माता-पिता बच्चों का पालन-पोषणादि करके बड़ा करते हैं। परन्तु बच्चे बड़े होने के बाद वृद्ध असहाय रुग्ण, दुर्बल माता-पिता के साथ तो विद्यार्थी शिक्षक के साथ, शिष्य गुरू के साथ कैसा व्यवहार करते हैं यह सब सर्व विदित हैं जो कहने लिखने के लिए दुःखप्रद, लज्जाजनक, मनुष्यता के लिए घोर अपनाजनक कंलक, स्वरूप है। ऐसे नरकपिशचों की तुलना पशु से करना पशु का घोर अवमूल्य ओर अपमान है। इसीलिए तो जन्मभर जीवों को मार कर खाने वाला सिंह तो पाचवें नरक में जन्म लेता है और स्त्री छठवें नरक परन्तु पुरुष सातवें नरक तक में जन्म लेकर दीर्घकाल तक भयंकर दुख भोगता है। कुछ पशु तो मरकर उत्तम भेगभूमिज मनुष्य या स्वर्ग के देव बन जाते हैं। परन्तु ऐसे मनुष्य तो नरक, निगोद में अनन्त दुःख भोगते हैं। इसलिए कहा है- "सुलझे पशु उपदेश से सुन तू क्यों न सुलझे पुमान्, नाहर से भये वीर प्रभु गज पारस महान्।" विश्व साहित्य के अध्ययन एवं प्रायोगिक अनुभव से सिद्ध होता है कि कुछ महापुरूष, कुछ भोले भाले सज्जन आस्थावान पुरूष को छोड़कर अधिकांश मनुष्य भले वे सत्ता, सम्पत्ति, बुद्धि, प्रसिद्धि, उपाधि से युक्त क्यो न हो विरोधाभाषी अवचेतन सन्तुष्ट प्राणी हैं। यह भयंकर दुष्प्रवृति आध्यात्मिक जागृति से ही परिज्ञान होता है अन्यथा नहीं हैं।

यत्यत् आचरितं पूर्वं तत्त अज्ञानं चेष्टितम्।
उत्तोरोत्तर विज्ञानात् योगिनः प्रतिभाषते।।

उत्तरोत्तर विज्ञान होने पर योगियों को पूर्व-पूर्व में आचरित आचरण अज्ञानपूर्वक हुआ था ऐसा परिज्ञान होता है। अर्थात् अज्ञान अवस्था में जो गलत आचरण अज्ञानी करता है उस आचरण को अज्ञानी अपनी अज्ञानता के कारण सही मानता है। अंधा प्रकाश का ज्ञान नहीं कर सकता है। वह अन्धकार तथा प्रकाश में भेद ज्ञान नहीं कर सकता है। अन्धकार तथा प्रकाश के ज्ञान के बिना वह अन्धकार तथा प्रकाश के पृथक्- पृथक् गुण धर्म तथा उपयोगिता को नहीं जान सकता है और उसका सही उपयोग नहीं हो कर सकता है। इसी प्रकार मोही अज्ञानी जो कुछ सोचता है कर सकता है वह सब मोह, अज्ञान से युक्त होने से सत्य एवं पवित्रता से रहित होता है।

मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते नहि।
मत्तः पुमान् पदार्थनां यथा मदनकोद्रवैः। (7) इष्टोपदेश

जब ज्ञान मोहनीय कर्म के विपाक से अभिभूत हो जाता है तब वह ज्ञान वस्तु स्वरूप को यथार्थ प्रकाशन करने में असमर्थ हो जाता है। शुद्ध स्वरूप से ज्ञान कथंचित् आत्मा से अभिन्न है और वस्तु स्वरूप को यथार्थ से जानने के

लिए पूर्ण समर्थ है परन्तु कर्म परवशता के कारण ज्ञान में/ आत्मा में विकार उत्पन्न हो जाता है। कहा भी है - जिस प्रकार मल से आबद्ध मणि एक प्रकार का नहीं होता है, एक प्रकार का प्रकाश नहीं देता है उसी प्रकार कर्म से अबद्ध आत्मा भी एक प्रकार का नहीं होता है और एक प्रकार का नहीं जानता है। नशे को पैदा करने वाले कोद्रव- कोदों धान्य को खाकर जिससे नशा पैदा हो गया है ऐसा पुरूष घट, पट आदि पदार्थों के स्वभाव को नहीं जान सकता, उसी प्रकार कर्म बद्ध आत्मा पदार्थों के स्वभाव को नहीं जान पाता है। अर्थात् आत्मा व उसका ज्ञान गुण यद्यपि अमूर्त है, फिर भी मूर्तिमान कोदाद्रि धान्यों से मिलकर बिगड़ जाता है। उसी प्रकार अमूर्त आत्मा मूर्तिमान कर्मों के द्वारा अभिभूत हो जाता है और उसके गुण भी दब जाते हैं।

मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीय दंसणो होदि।
णय धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो।। 17

उदय में आए मिथ्यात्व का वेदन अर्थात् अनुभव करने वाला ज़ीव विपरीत दर्शन अर्थात् अतत्व श्रद्धा से युक्त होता है। वह न केवल अतत्व की ही श्रद्धा करता है, अपितु अनेकान्तात्मक धर्म, वस्तु-स्वभाव, मोक्ष के कारणभूत रत्नत्रयात्मक धर्म को भी पसन्द नहीं करता। पित्त ज्वर से ग्रस्त व्यक्ति मीठे - दूध रसादि को पसन्द नहीं करता, उसी तरह मिथ्यादृष्टि को धर्म नहीं रूचता है। अवस्तु में वस्तुभाव, अधर्म में धर्मभाव, कुगुरू में गुरूभाव, कुशास्त्र में सुशास्त्र भाव को धारण करता है। बहिरात्मा केवल शरीर पोषण करता है, अतीन्द्रिय आत्मोत्थ सुख से बहिर्मुख होकर विषय सुख में ही लीन रहता है। बाह्य-भौतिक हानि वृद्धि में अपनी हानि-वृद्धि मानकर सुखी दुःखी होता है। सामान्य से मिथ्यात्व एक प्रकार होते हुए भी विशेष अपेक्षा अर्थात् द्रव्य-भाव से दो प्रकार, एकान्त, विपरीत, संशय, विनय, अज्ञान की अपेक्षा 5 प्रकार भी होता है। इसमें चार्वाक मत मिलाने से 6 प्रकार का मिथ्यात्व होता है। विशेष रूप से क्रियावादियों के 180, अक्रियावादियों के 84, अज्ञानवादी के 67 और वैनयिकवादियों के 32 इस प्रकार मिथ्यावादियों के 363 भेद होते हैं।

बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः।
चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः परमात्मातिनिर्मलः।। 5 स. तंत्र

शरीर, पुत्र, स्त्री, धन पशु, मकान आदि अन्य पदार्थों में जिसे अपनी आत्मा का या अपनेपन का भ्रम होता है वह बहिरात्मा जीव है जिसके चिन्त में रागद्वेष आदि दोषों तथा आत्मा के विषय में भ्रम नहीं रहा यानी- जो पृथक्-

पृथक् ठीक तरह जानता है वह अंतरात्मा है। जो मिथ्यात्व अज्ञान और राग आदि दोषों से सर्वथा छूटकर अत्यन्त निर्मल हो गया है, वह परमात्मा है।

बहिरात्मेन्द्रियद्वारैरात्मज्ञानपराङ्मुखः ।
स्फुरितश्चात्मनो देहामात्मवेनाध्यवस्यति। *7*

मिथ्यादृष्टि जीव स्पर्शन, रसना, घ्राण, नेत्र, कर्ण, इन्द्रियों के द्वारा बाहरी पदार्थों में स्फुरायमान बाहरी पदार्थों का जानने एवं अनुभव करने वाला है, अपने आत्मज्ञान से विमुख-रहित होता है, इसकारण अपने शरीर को आत्मा रूप से जानता है।

सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमोऽनात्मदर्शिनाम्।
विभ्रमोऽक्षीणदोषस्य सर्वावस्थात्मदर्शिनः। *93 सः तंत्र*

आत्मा का अनुभव न करने वाले बहिरात्माओं को सोते रहने तथा पागलपन आदि की दशा ही भ्रमरूप प्रतीत होती है। आत्मा का अनुभव करने वाले सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा को मिथ्यात्व दोष वाले बहिरात्मा की सभी सोती जागती दशा भ्रमरूप दिखाई पडती है।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति। *गीता.पृ.35*
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्त श्रुतस्य च।। *52*

जब तेरी बुद्धि मोहरूपी कीचड़ से पार उतर जायगी तब तुझे सुने हुए के विषय में और सुनने को जो बाकि होगा उसके विषय में उदासीनता प्राप्त होगी।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्यमीक्षते। *गीता पृ.159*
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम। *20*

जिसके द्वारा मनुष्य समस्त भुतों में एक ही अविनाशी भाव को और विविधता में एकता को देखता है उसे सात्त्विक ज्ञान जान।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभवान्पृग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भुतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्। *21*

भिन्न-भिन्न (देखने में) होने के कारण समस्त भूतों में जिसके द्वारा मनुष्य भिन्न-भिन्न विभक्त भावों को देखता है उस ज्ञान को राजस जान।

यतु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहतम्।। *22*

जिसके द्वारा एक ही कार्य में बिना किसी कारण के सब आ जाने का भास होता है, जो रहस्यरहित और तुच्छ है वह तामस ज्ञान कहलाता है।

नियतं संग रहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते।। *23*

फलेच्छारहित पुरूष का आसक्ति और राग-द्वेष के बिना किया हुआ नियत कर्म सात्त्विक कहलाता है।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहतम्।। *24*

भोग की इच्छा रखने वाले जिस कार्य को "मैं करता हूँ" इस भाव से बड़े आयासपूर्वक करते है वह राजस कहलाता है।

अनुबन्धं क्षय हिंसामनवेक्ष्य च पौरूषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तमसमुच्यते।। *25*

मनुष्य जो काम परिणाम का, हानि का, हिंसा का और अपनी शक्ति का विचार किये बिना, मोह के वश होकर आरम्भ करता है वह तामस कर्म कहलाता है।

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्विक उच्यते।। *26*

जो आसक्ति और अहंकार रहित है, जिसमें दृढता और उत्साह है, जो सफलता-निष्फलता में हर्ष-शोक नहीं करता है वह सात्विक कर्ता कहलाता है।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः।। *27*

जो रागी है, जो कर्म फल की इच्छावाला है, लोभी है, हिंसावान है, हर्ष और शोकवाला है वह राजस कर्ता है।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते।। *28*

जो अव्यवस्थित, असंस्कारी, झक्की, झूठ, नीच, आलसी, अप्रसन्न चित्त और दीर्घसूत्री है वह तामस कर्ता कहलाता है।

बुद्धर्भेदं धृतश्चैव गुणतस्त्रिविधं श्रृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेनधनंजय।। *29*

हे धनंजय ! बुद्धि और धृति के गुण के अनुसार पूरे और पृथक्-पृथक् तीन प्रकार कहता हूँ उन्हें सुन।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कर्याकार्ये भयाभये ।
बन्ध मोक्ष च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी।। *30*

प्रवृत्ति, निवृत्ति, कार्य, अकार्य, भय, अभय, बन्धन, मोक्ष का भेद जो

बुद्धि (उचित रीति से) जानती है वह सात्विक बुद्धि है।

यया धर्ममधर्म च कार्य चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।। *31*

हे पार्थ! जो बुद्धि धर्म-अधर्म और कार्य अकार्य का विवेक गलत ढंग से करती है, वह बुद्धि राजसी है।

अधर्म धर्मामिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।। *32*

हे पार्थ! जो बुद्धि अंधकार से घिरी हुइ है, अधर्म को धर्म मानती है और सब बाते उल्टी ही देखती है वह तामसी बुद्धि है।

धृत्या यया धारयेत मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्विकी।। *33*

हे पार्थ! जिस एकनिष्ठ धृति से मनुष्य मन, प्राण और इंद्रियों की क्रिया को साम्यबुद्धि से धारण करता है, वह धृति सात्विक है।

यया तु धर्मकामार्थन्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी।। *34*

हे पार्थ! जिस धृति से मनुष्य फलाकांक्षी होकर धर्म, काम, और अर्थ को आसक्तिपूर्वक धारण करता है वह राजसी धृति है।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुंचति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी।। *35*

हे पार्थ! जिस धृति से दुर्बुद्धि मनुष्य निंदा, भय, शोक, निराशा और मद को छोड नहीं सकता वह तामसी धृति है।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृण मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।। *36*
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धि प्रसादजम्।। *37*
विषयेन्द्रिय संयोगाद्यतद्रग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।। *38*
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालयस्यप्रमादोत्थं ततामसमूदाहृतम्।। *39*
तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्वं प्रक्रतिजैर्मूक्तिं यर्दोभः स्यात्सिाभिर्गुणैः।। *40*

हे भरतर्षभ ! अब तीन प्रकार के सुख का वर्णन मुझसे सुन। जिसके अभ्यास से मनुष्य प्रसन्न रहता है, जिससे दुःख का अन्त होता है, जो आरंभ में विष समान लगता है, परिणाम में अमृत जैसा होता है, जो आत्म ज्ञान की प्रसन्नता में से उत्पन्न होता है, वह सात्विक सुख कहलाता है। 36–37

विषय और इंद्रियों के संयोग से जो आरम्भ में अमृत समान लगता है पर परिणाम में विष समान होता है वह सुख राजस है। 38

जो आरंभ में और परिणाम में आत्मा को मोहग्रस्त करने वाला और निद्रा, आलस्य और प्रमाद में से उत्पन्न हुआ है, वह तामस सुख कहलाता है। 39

पृथ्वी में या देवताओं के मध्य स्वर्ग में ऐसा कुछ भी नहीं है जो प्रकृति में उत्पन्न हुए तीन गुणों से मुक्त हो । 40

अतएव आध्यात्मिक महापुरुष तीर्थंकर , साधु-संत से लेकर वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिकों ने विरोधाभाषी अवचेतन संतुष्टी से विपरीत सत्य-विश्वास, सच्चा विज्ञान, आत्म-शोधन, सदाचरण को सम्पूर्ण विकास सर्वोदय, अभ्युदय, निश्रेयस सुख के लिए कारणभूत कहा है। ऐसे नैतिक, आध्यात्मिक गुणों का मूल्यांकन किसी भी भौतिक मूल्य से करना असंभव है। भौतिक दृष्टि से उपर्युक्त गुणों का मूल्य अमूल्य है, तुलनारहित है।

कलाणपरंपरयं लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्ता।
सम्मद्दसणरयणं णग्घदि ससुरासुरो लोओ।। *740*

विशुद्ध सम्यग्दृष्टी जीव इंद्रपद, चक्रवर्तिपद, अहमिन्द्रपद, तीर्थंकरपद आदि कल्याण परम्परा को प्राप्त करते हैं। मूल्यके रूपमें समस्तलोक देनेपर भी सम्यक्त्वरत्न प्राप्त नहीं होता।

सम्मत्तस्स य लंभे तेलोक्कस्स य हवेज्ज जो लंभो।
सम्मद्दंसणलंभो वरं खु तेलोक्कलंभादो ।। *741*

सम्यक्त्व की प्राप्ति के बदले में यदि तीन लोकप्राप्त होते हो तो त्रैलोक्य की प्राप्तिसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति श्रेष्ठ है।

लद्धूण वि तेलोक्कं परिवडदि हु परिमिदेण कालेण।
लद्धूण य सम्मत्तं अथ्खयसोक्ख हवदि मोक्खं।। *742*

तीनों लोक प्राप्त करके भी कुछ काल बीतने पर छूट जाते हैं। किन्तु सम्यक्त्व को प्राप्त करके अविनाशी सुखवाला मोक्ष प्राप्त होता है।

न सम्यक्त्वसमं किंचित्, त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
त्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं, न्यान्यत्तनुभृताम्।। *34 र. श्रा.*

तीनों काल में तीन जगत् में संसारी जीवों को सम्यक्त्व के समान दूसरा कुछ भी कल्याणकारी नहीं है और मिथ्यात्व के समान दूसरा कुछ भी अकल्याण नहीं है।

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारक-तिर्यङ्नंपुसक-स्त्रीत्वानि।
दुष्कुल-विकृताऽल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाऽप्यव्रतिकाः। *35*

निर्मल सम्यग्दर्शन के धारी जीव व्रत रहित होने पर भी नारकी, तिर्यंच, नपुंसक, और स्त्री पर्याय को और नीचकुल, विकलअंग, अल्पायु और दरिद्रपने को नहीं प्राप्त होते हैं।

ओजत्तेजोविद्यावीर्य्ययशोवृद्धि विजयविभवसनाथाः ।
महाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः।। *36*

सम्यग्दर्शन से पवित्र जीव विद्या, वीर्य, यशःवृद्धि, विजय-विभव, क्रान्ति, प्रताप, पराक्रम, कीर्ति कुलवृद्धि, विजय और सम्पत्ति के स्वामीश्रेष्ठ कुलवाले महान् पुरुषार्थों के साधक तथा मनुष्यों में शिरोमणि होते हैं।

नव-निधि-सप्तद्वय - रत्नाधीशाः सर्वभूमिपतयश्चक्रम्।
वर्तीयतुं प्रभवन्ति स्पष्टदृशः क्षत्रमौलिशेखरचरणाः।। *38*

सम्यग्दृष्टि जीव षट्खण्ड पृथ्वी अधिपति अर्थात् चक्रवर्ती होकर चक्ररत्न प्रवर्ताने को समर्थ होते हैं, कैसे हैं वे चक्रवर्ती राजा? नवनिधि, चौदह रत्नों के स्वामी हैं तथा क्षत्रिय राजाओं के मुकुटों के तुर्रे जिनके चरणो में है ऐसे होते हैं।

अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्च नूतपादाम्भेजाः।
दृष्ट्वा सुनिश्चितार्था वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः। *39*

जीवादि सप्त तत्त्व, नव पदार्थों का दृढ निश्चय करनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्व के प्रभाव से देवेन्द्र-धरणेन्द्र व नरेन्द्रों के द्वारा और गणधरों के द्वारा नमस्कार किये गये हैं चरण कमल जिनके ऐसे तीन लोक के जीवों को शरणभूत धर्म चक्र के धारक होते हैं।

शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोक भयशंकम्।
काष्ठागतसुख-विद्या-विभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणाः। *40*

सम्यग्दर्शन की शरण लेनेवाले जीव वृद्धावस्था रहित, रोग रहित, विनाश रहित, बाधा रहित, शोक, भय व शंका रहित अनन्त सुख व अनन्त ज्ञानके वैभव से युक्त कर्ममल रहित मोक्षपद को प्राप्त होते हैं।

13 सर्वोदयी-परम-वैज्ञानिक-विश्वनेता-भगवान् महावीर

भ. महावीर को किसी भी सीमा में बांधना उनकी अनंत महानता को कम करना है; भले वह सीमा जाति, पंथ, मत, राष्ट्र, मानव, समाज-सुधारक, धर्म-प्रचारक, धर्म-संस्थापक, गुरु, शिष्य, वैज्ञानिक, नेता, तपस्वी, ज्ञानी, ध्यानी आदि-आदि क्यों न हो। क्योंकि वे अनंत, अक्षय गुण-धर्म, पर्याय/अवस्था, विशेषताओं से युक्त थे, है और अनंत भविष्य तक रहेंगे। जिस प्रकार अनंत सर्वव्यापी अछेद्य, अभेद्य आकाश को किसी भी प्रकार के भौतिक साधन से न माप सकते हैं, न खंडित कर सकते हैं उसी प्रकार भ. महावीर के बारे में जानना चाहिए। आकाश भी भ. महावीर कि महनता के सामने छोटा है और भ. महावीर के ज्ञान से परिच्छेद्य/ज्ञात है (खंडित है''ज्ञान कोणे विलिण'')। तथापि इस लेख में मैं भ.महावीर के (1) सर्वोदयी (2) परम् वैज्ञानिक (3) विश्व नेता विशेषण के बारे में कुछ प्रकाश डालूंगा।

1 सर्वोदयी महावीर भगवान

भ. महावीर ने सर्व प्रथम स्वयं में निहित अनंत गुण-धर्म शक्ति, विभूति संभावनाओं का सर्वांगीण, सर्वोतोन्मुखी, सर्वोच्च विकास/उदय किया तथा विश्व के समस्त एकेंद्रिय वनस्पति, कीट-पतंग, पशु-पक्षी, मनुष्य, देव, नारकी के सर्वोदय के लिए उपदेश दिया, उपाय बताया। उन्होंने केवल भौतिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, वैज्ञानिक विकास के लिए उपदेश नहीं दिया परंतु इसके साथ-साथ शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, भावात्मक, आध्यात्मिक आदि उन्नति के लिए भी प्रवचन दिया। वे एकांगी विकास को अन्ततः विनाश के लिए कारण बताया। इसके लिए उन्होंने अनेकान्तात्मक सापेक्ष-पद्धति को जीवन में अपनाने के लिए व्याख्यायित किया। उन्होंने मनुष्य की सुरक्षा, समृद्धि के लिए उपदेश दिया परंतु इसके लिए दूसरे प्राणी जगत को तथा प्रकृति को भी सुरक्षित रखकर तथा उनकी समृद्धि में किसी भी प्रकार की बाधा न पहुँचाने के लिए निर्देश दिया। भ.महावीर के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक प्राणी समान है और पुरुषार्थ के माध्यम से जो सर्वांगीण विकास करेगा वह भगवान् बन जायेगा। भ.महावीर ने कहा जिस प्रकार मनुष्य जीना चाहता है, सुख-समृद्धि चाहता है और यह मनुष्य का स्वभाव भी है तथा अधिकार भी है। उसी प्रकार अन्यान्य सब जीव भी जीना चाहते हैं, सुख-समृद्धि चाहतें हैं और यह उनका स्वभाव भी है तथा अधिकार भी

है। अतः मनुष्य के पास किसी भी प्रकार के उपाय से दूसरों के स्वभाव और अधिकार को छीनने का अधिकार नहीं है। जो मनुष्य बुद्धि बल से धन या सत्ता अथवा कानून या अस्त्र-शस्त्र के बलपर दूसरों का अधिकार छीनता है धीरे-धीरे वह भी स्व-अधिकार से छिन जाता है। इसीलिए उन्होंने सर्वोदय के लिए अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, साम्यवाद, सहअस्तित्व, विश्वबंधुत्व का पाठ पढाया। उन्होंने "जिओ और जीने दो" तथा "जीना है तो जीने दो" का सूत्र बताया पंरतु संकीर्ण स्वार्थी, क्रूर प्राणी मनुष्य "जिओ और जाने दो" या "जीना है तो मारने दो/मरने दो" रूपी विध्वंसात्मक विपरीत सूत्र को अधिक अपनाकर सुखी बनना चाहता है, विकास करना चाहता है। विशेष जानकारी के लिए मेरी कृति **धर्म, जैन धर्म तथा "भ. महावीर"** का अध्ययन करे।

2 परम् वैज्ञानिक भ. महावीर

भ.महावीर विश्व के परम वैज्ञानिक थे। क्योंकि उन्होंने स्व-आध्यात्मिक प्रयोगशाला में प्राणी-विज्ञान, भौतिक-विज्ञान, रासायनिक-विज्ञान, प्रकृति-विज्ञान, विश्व-विज्ञान, मनोविज्ञान से लेकर आध्यात्मिक-विज्ञान का शोध-बोध करके उसका प्रचार-प्रसार किया। भ.महावीर परम वैज्ञानिक क्यों है इसका कुछ दिग्दर्शन उनके द्वारा प्रतिपादित कुछ सिद्धांत के माध्यम से निम्न में कर रहा हूँ-

संपूर्ण ब्रह्माण्ड अकृत्रिम/शाश्वतिक एवं परिणमनशील है इसका निर्णयात्मक संपूर्ण ज्ञान विज्ञान को नहीं है। विज्ञान में भौतिक तत्त्वों का तो कुछ शोध- बोध हुआ है तथा किंचित् रूप से जीवद्रव्य, आकाश, काल, गति-माध्यम, स्थिति माध्यम का वर्णन पाया जाता है परंतु जिस प्रकार सर्वांगीण रूप से गणितिय/वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जीव, भौतिक तत्त्व (पुद्गल), धर्म द्रव्य (गति माध्यम), अधर्म द्रव्य (स्थिति माध्यम), आकाश, काल का वर्णन है ऐसा वर्णन जैन धर्म को छोडकर अन्य धर्म यहाँ तक कि विज्ञान में भी नहीं है। विश्व का आकार-प्रकार घनफल और विश्व में स्थित समस्त द्रव्यों की संख्या का वर्णन भी जैन धर्म में जैसा है वैसा अन्य धर्मों व विज्ञान में नहीं है। वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने विश्व-प्रतिविश्व की परिकल्पना तो की है परंतु वे भी समग्र रूप से उसके क्षेत्रफल, घनफल, सीमा का निर्धारण नहीं कर पायें और यह निर्धारण अभी तक नहीं हो पाया है। संपूर्ण ब्रह्माण्ड में 23 भौतिक वर्गाणायें एवं सूक्ष्म स्थावर जीव ठसाठस भरे हुए हैं, इसका वर्णन

भी अन्यत्र नहीं है।

प्रायः प्रत्येक धर्म, विज्ञान परिणमन को मानते हैं परन्तु विश्व के प्रत्येक द्रव्य में उसके अनन्तगुणी आदि षट्गुण हानि-वृद्धि रूप में जो परिणमन होता है उसका परिज्ञान उन्हें नहीं है। इसी प्रकार काल परिवर्तनरूप उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी एवं षट्कालों का वर्णन विधिवत् नहीं पाया जाता है।

विज्ञान में यह सिद्ध नहीं हो पाया है कि विश्व कबसे है, कबतक रहेगा, कब नष्ट होगा। जीव कबसे है, उसके गुण-धर्म, स्वभाव क्या हैं उसकी शुद्ध-अशुद्ध अवस्था क्या है ? जैनधर्म में सूक्ष्म एकेन्द्रिय निगोदिया जीव से लेकर पंचेन्द्रिय मनुष्य, पशु-पक्षी, नारकी, स्वर्ग के देव एवं पूर्ण शुद्धता को प्राप्त शुद्ध जीव (सिद्ध परमात्मा) का वर्णन 14 गुणस्थान, मार्गणा, जीवसमास के माध्यम से अत्यन्त वैज्ञानिक/गणितीय पद्धति से किया गया है।

गणित का आविष्कार भारत में हुआ परन्तु जैनधर्म के अलौकिक गणित में अनंत, असंख्यात, संख्यात, पल्य, सागर, आदि का वर्णन है, ऐसा विधिवत वर्णन अन्य धर्मों में व आधुनिक विज्ञान में भी नहीं है। अलौकिक गणित में जो चिन्ह/उपमान आदि का वर्णन किया गया है वह भी अन्यत्र कहीं नहीं है।

शुद्ध परमाणु की एवं शुद्ध जीव की गति एवं मृत्यु के बाद जीव की गति की मंदता, मध्यमता, तीव्रता का जो वर्णन जैनधर्म में पाया जाता है वह अन्यत्र नहीं है। यहाँ तक कि आइन्स्टीन ने जो प्रकाश की परम गति जो कि ***1*** सैकन्ड में ***3*** लाख कि.मी. माना है वह भी दोषपूर्ण है। अभी तक विज्ञान अविभाज्य परमाणु की खोज नहीं कर पाया है परन्तु इसका वर्णन जैनधर्म में है। शुद्ध परमाणु में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और उसकी गति आदि का वर्णन जैसा र्जनधर्म में वर्णित है वैसा विज्ञान में नहीं है। विज्ञान में वनस्पति को तो जीव रूप में सिद्ध कर लिया है और स्वीकार कर लिया है परन्तु पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक को जीव रूप में सिद्ध नहीं कर पाया है।

प्रायः प्रत्येक धर्म तथा मनोविज्ञान अच्छे-बुरेभाव एवं कर्म के फल को तो मानते हैं परंतु जिस प्रकार जैनधर्म में योग (मन-वचन-काय का परिस्पंदन), उपयोग (विभिन्न भावनायें एवं आवेश) से अनंतानंत भौतिक कर्मपरमाणु आकर्षित होकर आत्मा के प्रत्येक असंख्यात प्रदेशों में बंधते हैं, स्थिर रहते हैं एवं समय प्राप्त होने पर फल देते हैं ऐसा गणितीय/वैज्ञानिक

वर्णन नहीं है। जैनधर्म का सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त अनेकांतवाद (सापेक्षवाद) है। इस सिद्धांत को व्यवहारिक में सब कोई अपनाते हैं लेकिन किसी भी धर्म-दर्शन में इसका विधिवत् वर्णन नहीं पाया जाता है। वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने इस सिद्धांत को माना है परंतु आइन्स्टीन का सापेक्षवाद भी जैन धर्म के अनेकान्तवाद सिद्धांत के बराबर व्यापक, सार्वभौम नहीं है।

वनस्पति से लेकर पशु-पक्षी, मनुष्य में जो आकार-प्रकार, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, भाव, क्रिया-प्रतिक्रिया, संवेदना, ज्ञान, अनुभूति आदि होती है उसके कार्य कारण संबन्धों का संपूर्ण ज्ञान अन्यत्र कहीं नहीं है।

जैनधर्म में जैसे गणितीय / वैज्ञानिक दृष्टि से कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान का वर्णन पया जाता है वैसा वर्णन अन्य धर्मों में यहाँ तक कि विज्ञान में भी नहीं है।

जीव के पूर्वोत्तर अनंत भवों का वर्णन जैसे जैनधर्म में है वैसा वर्णन अन्यत्र कहीं नहीं है। जीव के जो औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्माण आदि पांच शरीरों का विधिवत् वैज्ञानिक वर्णन है वह भी अन्यत्र नहीं है।

संसारी जीव ही जिस प्रकार क्रम विकास करता हुआ भगवान् बनता है ऐसा विधिवत् क्रम विकास का वर्णन अन्यत्र नहीं मिलता है। जब कोई साधक अरहन्त बनता है उस समय समवशरण की जो रचना होती है उस समय अरहन्त 718 भाषाओं में उपदेश देते हैं। उनके हजारों पशु-पक्षी शिष्य होते हैं। उनका शरीर स्फटिक के समान पारदर्शी होता है। उनका आकाश में गमन होता है। उनके प्रभाव से षट्ऋतुओं के फल-फूल एक साथ फलते-फूलते हैं, दुर्भिक्ष, युद्ध, महामारी आदि नहीं होता है ऐसा अन्यत्र वर्णन नहीं पाया जाता। प्रलय का जिस प्रकार व्यवस्थित वर्णन जैनधर्म में है वैसा अन्यत्र नहीं है।

जैनधर्म में जिस आत्मा-परमात्मा का व्यवस्थित/क्रमबद्ध/गणितीय वर्णन है ऐसा वर्णन अन्यत्र नहीं पाया जाता।

श्यामविवर (तमस्कंध) Black Hole का भी जैसा वर्णन जैनधर्म में है ऐसा वर्णन विज्ञान में भी नहीं है। वैज्ञानिक अभी इसकी खोज कर रहे हैं।

विशेष जिज्ञासु मेरी 1) विश्व विज्ञान रहस्य 2) विश्व द्रव्य विज्ञान 3) विश्व, प्रतिविश्व एवं श्यामविवर 4) ब्रह्माण्डीय जैविक, भौतिक एवं रसायन विज्ञान 5) अनन्त शक्ति सम्पन्न परमाणु से लेकर परमात्मा आदि का अध्ययन

करें।

3) विश्वनेता भ. महावीर

जो स्वयं के विकास के पथ पर आगे बढे तथा दूसरों को भी उस पथ पर ले जावे (नयतीति नेता) उसे नेता कहते हैं। इस दृष्टि से भ. महावीर विश्व नेता हैं क्योंकि वे भगवत् अवस्था (परमात्मावस्था) तक विकास करके विश्व के प्रत्येक प्राणी को उस अवस्था तक विकास करने के लिए मार्गदर्शन किया। उनकी धर्मसभा में लाखों साधु-साध्वी, राजा-महाराजा से लेकर सामान्य श्रद्धालु मनुष्य ही नहीं थे परंतु असंख्यात देवी देवताओं के साथ-साथ उनके लाखों पशु-पक्षी, भक्त समान स्थान प्राप्त करके प्रेम एवं शान्ति से धर्म श्रवण करते थे। उन्हों ने यहाँ तक कहा कि जो मनुष्य सत्विश्वास सच्चाज्ञान और सदाचार आदि से युक्त नहीं है वह उस पशु-पक्षी, पिशाच, राक्षस, भूत, नारकी से भी नीच है जो कि सत्विश्वास आदि से युक्त है। उन्होंने केवल मनुष्य-मनुष्य समान नहीं कहा परंतु उन्होंने यहाँ तक कहा है कि निश्चय दृष्टि से शक्ति की अपेक्षा प्रत्येक जीव, कीट-पतंग, पशु-पक्षी आदि मेरे समान हैं। अर्थात् पशु- पक्षी आदि भी भगवान् हैं। यह भ.महावीर का सर्वोच्च साम्यवाद है, समाजवाद है, लोकतंत्र है। उन्होंने केवल स्व के ऊपर अनुशासन (आत्मानुशासन) करने को धर्म कहा है, दूसरों के ऊपर अनुशासन करने को पाप/हिंसा/ अपराध कहा है। "क्षतात् रक्षति इति क्षत्रिय" (राजा) आर्थात् जो प्रजा की रक्षा क्षति से करे वह क्षत्रिय (राजा, नेता, मंत्री) है न कि प्रजा को क्षति पहुँचाने वाला।

उपर्युक्त भ.महावीर के केवल तीन विशेषणों से उनकी महानता, विराटता, व्यापकता, श्रेष्ठता, ज्येष्ठाता का कुछ दिग्दर्शन हो जाता है। अतः भ.महावीर स्वयं वैश्विक विभूति, आदर्श, पूजनीय, अनुकरणीय, अभिनन्दनीय, अभिवन्दनीय है। अतः उनके द्वारा कहे गये समस्त सिद्धान्त वैश्विक है, सर्वोदयी है, सार्वकालीन, सर्वजीव-हितकारी, सर्वजीव-सुखकारी है। अतः भ. महावीर को तथा उनके सिद्धान्त को किसी भी पंथ, मत, जाति, राष्ट्र की सीमा में कैद न करके प्राणवायु के समान सबको स्वीकार करके सबको सर्वोदयी बनाना चाहिए एवं विश्व को सुख शान्तिमय बनाना चाहिए। यही महावीर जयन्ति मनाने का सच्चा उद्देश्य/फल है।

14 गैस से बना हुआ भोजन क्या साधु एवं गृहस्थ योग्य है ?

(रसोई गैस के दुष्प्रभाव)

जैनधर्मानुसार प्रत्येक द्रव्यों का परस्पर निमित्त-नैमित्तिक प्रभाव पडता है। इसके साथ-साथ पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, मन-वचन-काय, कृत-कारित- अनुमोदना से होता है। मन-वचन-काय से करना, करवाना या अनुमोदना पुण्य-पाप के लिए कारक है। हिंसा/कष्ट/दुःख/रोग कारक उपाय से प्राप्त या तैयार किया भोजन भी पुनः हिंसा, कष्ट, दुःख, रोग उत्पादक होता है। रसोई गैस (प्रायमेस से भी) से भोजन बनाने से और उस भोजन से क्या हानि है उसका कुछ दिग्दर्शन निम्नोक्त है -

आधुनिक शिक्षा, फैशन, आलस्यपना, दिखावा, स्टेटस् सिम्बल, शहरीकरण, घर गन्दा न हो, आपाधापी जीवन, समयाभाव, जगह की कमि, विज्ञापन के मायावी प्रभाव, सामाजिक प्रभाव (गैस प्रयोग नहीं करने वालों को सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से पिछडा माना जाना और उनसे बेटी का लेन-देन नहीं करना) प्राकृतिक ईन्धन की दुर्लभता आदि के कारण अधिकांश लोग रसोई गैस का प्रयोग करते हैं। प्रथमतः प्राकृतिक ईंधन (लकडी, कोयला आदि) से बना हुआ भोजन स्पर्श, रस, गंध, वर्ण एवं पौष्टिकता की दृष्टि से गैस से बने हुए भोजन से श्रेष्ठ होात है यह अनुभव उसे हो सकता है जो दोनों प्रकार से ईंधन से बना हुआ भोजन किया हो। यहाँ तक कि अनुभव में आता है कि देशी चुल्हे से बना हुआ भोजन सिगडी से बना हुआ भोजन हर दृष्टि से उत्तम है। प्राकृतिक रूप से शुष्क जीव-जंतु से रहित लकडी या उससे प्राप्त कोयला से तो विशेष हिंसा, प्रदुषण आदि नहीं होता है परन्तु गैस की प्राप्ति से लेकर प्रयोग तथा प्रयोग के बाद भी हिंसा, प्रदुषण, रोग आदि होते हैं। यथा गैस-कुआँ खोदने से लेकर उसकी पैकिंग, निर्यात, जलना, विस्फोट आदि से एकेन्द्रिय पृथ्वीकायिक जीव से लेकर मनुष्य तक की हिंसा, प्रदुषण, रोग आदि होते हैं।

कैसे बनती है नाइट्रोजन डाई आक्साइड

रसायन शास्त्र के नियमों के अनुसार नाइट्रोजनडाईआक्साइड गैस का निर्माण उच्च ताप पर दहन क्रिया होने से होता है। एल.पी.जी. गैस

में प्रयोग होने वाली प्रोपेन और ब्यूटेन गैसें चूंकि पेट्रोलियम गैसें हैं। अतः इनका दहन 800 से 1200 डिग्री सेल्सियस के तापक्रम पर होता हैं। नाइट्रोजन डाई आक्साइड बनने के लिए 400 डिग्री सेल्सियस से अधिक तापक्रम चाहिए होता है। रसोई गैस के जलने पर वातावरण में मौजुद नाइट्रोजन आक्सीजन के साथ मिलकर नाइट्रोजन आक्साइड गैस बनती है। यह नाइट्रोजन आक्साइड पुनः आक्सीजन के साथ क्रिया करती है और नाइट्रोजनडाईआक्साइड का निर्माण करती है। इस दौरान नाइट्रोजन का एक अणु आक्सीजन के एक अणु के साथ क्रिया करता है फिर ये दोनों अणु पुनः आक्सीजन के एक अणु के साथ क्रिया करते हैं और नाइट्रोजन डाई आक्साइड बनती है इसे $N_2+O_2=2NO, 2NO+O_2=2NO_2$ के सूत्र के रूप में व्यक्त किया जाता है।

विभिन्न स्थानों में कई घरों में हुए शोध के हाल ही जारी आंकडों के अनुसार घरों में गैस के कारण प्रतिघन मीटर क्षेत्र में 311 माइक्रोग्राम तक नाइट्रोजन डाई आक्साइड गैस वातावरण में घुलकर साँसों में जहर घोलती है। प्रदुषण नियंत्रण मण्डल के निर्धारित मानकों में प्रतिघन मीटर क्षेत्र में 80 माइक्रोग्राम से ज्यादा नाइट्रोजन डाई आक्साइड की मौजूदगी को खतरनाक माना गया है। राजधानी जयपुर में भी छोटी चोपड 84 रामबाग सर्किल पर 120 और अजमेरी गेटपर 161 माइक्रोग्राम प्रतिघनमीटर इस गैस की मौजूदगी पायी गई है। इतना ही नहीं मानकों के अनुसार धूल के कणों (आरएसपीएम) की मात्रा 0.75 मानी गई है। लेकिन शोध में रसोईघर में इनकी मात्रा दुगने से अधिक 1.6 माइक्रोग्राम प्रतिघनमीटर पाई गई है। इसी से अंदाज लगाया जा सकता है, घर की महिला बेहद विषम परिस्थितियों में अपने परिवार को भोजन पका कर लेती है। वातावरण में मौजूद 70 फीसदी नाइट्रोजन चारसौ डिग्री सेल्सियस से अधिक तापमान में ही आक्सीजन से क्रिया करके नाइट्रोजन डाई आक्साइड बनाती है। आमतौर पर रसोई गैस में बर्नर 800–1200 डिग्री सेन्टीग्रेट पर (चार से छः घण्टे तक) जलता है बर्नर का यही उच्च तापमान रसोई घर के वायु प्रदूषण का जनक है। उच्च तापमान मिलने के कारण ही रसोई के वातावरण में मौजूद आक्सीजन गैस में तेजी से कमी होती है और नाइट्रोजन डाई आक्साइड का उत्सर्जन बढता है। यह बढी हुई गैस ही मूल खतरा है। गैस के अतिरिक्त रसोई के वातावरण में अल्प मात्रा में सल्फर डाई आक्साइड

और कार्बन मोनोआक्साइड भी उत्पन्न होती है। वैज्ञानिकों ने रसोई गैस में जलने वाली गैस में मानकों से अधिक वायु प्रदूषण को मापने के लिए गृहणियों के कंधे पर प्रदूषण संवेदी यंत्र लगाया और प्रदूषण की जाँच की। नाइट्रोजन डाई आक्साइड नाक से श्वांस नली के रास्ते फेफडों में जाती है। फेफडों की उपरी सतह पर लगी एक पतली सी झिल्ली पर नाइट्रोजन डाई आक्साइड छोटे-छोटे घाव कर देती है। नायट्रोजन डाई आक्साइड श्वांस के माध्यम से फेफडो में पहुँचती है और फेफडें ऑक्सीजन के साथ इसे भी हृदय के पास भेजती है।

उपर्युक्त कारणों से गैस से भोजन बनाने वाली (वाला भी) अस्थमा, एलर्जी सरीखे श्वांस संबन्धी खतरनाक रोग, फेफडों के रोग, खांसी, रक्तल्पता, घुटन, सांस फुलना, लगातार छींक आना , त्वचा में एलर्जी, स्मृति लोप, चक्कर, बेहोशी, मूर्च्छित होकर गिरजाना आदि रोग होते हैं। विषाक्त गैस के कारण और भी अनेक कीट-पतंग, जीव जन्तु रोगी होते हैं, मरते हैं, पर्यावरण प्रदूषित होता है, गरमी बढती है, ग्रीन हाउस प्रभावित होता है। गैस से बना हुआ भोजन से रुचि नहीं आती है, पित्त, वायु की वृद्धि होती है जिससे उल्टी होती है, वातरोग होता है।

उपर्युक्त समस्त दृष्टिकोण से गैस से भोजन बनाना, उस भोजन को ग्रहण करना भी दोषकारक है, हिंसा कारक है, रोग कारक है। अतः गृहस्थों को गैस का प्रयोग नहीं करना चाहिए और साधु-संतों को गैस से बना हुआ भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए। क्योंकि साधुओं के आहार समस्त प्रकार के उद्गम, उत्पादन, अंगार दोष एवं अन्तराय से रहित होना चाहिए। इन उद्गमादि दोष में मुख्यतः स्व-पर के कष्टकारक तत्त्व, उपाय अन्तर्गत है। रोगी से आहार लेना, रोगकारक आहार लेना, पशु, मनुष्य आदि की रोने की आवाज सुनने के बाद या देखने के बाद आहार लेना, अग्नि कायिक जीव (अग्नि) का बुझते देखने पर, धुँआ होने पर, दुर्गन्ध ग्लानि होने पर, मार-काट आदि शब्द सुनने पर भी यदि साधु अहार ग्रहण नहीं कर सकते हैं तब उपर्युक्त गैस के दोष के होते हुए भी साधु क्या गैस से बना हुआ आहार कर सकते हैं? अर्थात् नहीं कर सकते हैं, नहीं करना भी चाहिए। साधुओ के लिए ही अयोग्य नहीं परन्तु श्रावकों के लिए भी अयोग्य है। आचार्य समंतभद्र स्वामी ने श्रावकों के भोगोपभोग परिमाणव्रत के प्रकरण में कहा है -

यदनिष्ठ तद्व्रतयेद्यच्चानुपसेव्य मेतदपि जह्यात्।
अभिसंन्धिकृता विरतिविषियाद्योग्यात् व्रतं भवेत्।। 86

जो पदार्थ अनिष्ट (प्रकृति विरुद्ध, स्वास्थ्य के लिए अहितकर) है उसको त्याग देना चाहिए और अनुपसेव्य (लार, मूत्र, झूठन आदि) है उसे भी छोड देना चाहिए । क्योंकि संकल्प पूर्वक त्याग करने को व्रत कहते हैं।

अन्न-मन-तन-आचरण का आन्तः सम्बन्ध

(वैज्ञानिक-धार्मिक- आयुर्वेदिक दृष्टि से)

"शरीरमाद्यम् खुल धर्म साधनम्" "पहला सुख नियोगी काया" के अनुसार धर्म साधना के लिए, सुखमय जीवन के लिए स्वस्थ शरीर की भी आवश्यकता होती है। **"जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन"**(As you eat so you become) या **"जैसा होवे मन वैसा खावे अन्न"** (As you think so you eat) के अनुसार अन्न और मन का भी परस्पर अन्तः सम्बन्ध है। इसके साथ-साथ भोजन प्राप्ति के उपाय, स्थान, काल,उद्देशय, बर्तन, दिशा, पानी, वातारण भोजन बनाने का ईंधन, ताप, चांप, मर्यादा आदि का भी योग्य या अयोग्य प्रभाव तन, मन, वचन, व्यवहार के ऊपर पडता है।

साधु जो आहार करते हैं उसका मुख्य उद्देश्य आत्मकल्याण आत्मसाधना है। शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य तथा साधना के लिए साधु आहार करते हैं। आहार का प्रभाव शरीर एवं मन के ऊपर भी पडता है इसलिए साधु को साधना के लिए योग्य आहार करना चाहिए तथा अयोग्य आहार नहीं करना चाहिए। श्रावक को साधु की प्रकृति, आयु तथा वातावरण को देखकर के आहार देना चाहिए। आयुर्वेद के अनुसार प्रवृत्ति तीन प्रकार की होती है जैसे 1) वात 2) पित्त 3) कफ। वात प्रकृति वाले को वायु कारक भोजन नहीं करना चाहिए। उन्हें मटर, बेसन, उडद, ग्वार की फल्ली आदि भोजन नहीं करना चाहिए। पित्त प्रकृति वालों को मिर्च, उष्ण प्रकृति के भोजन, तेल, खट्टी चीजे, तेल से तली हुई चीज नहीं खाना चाहिए। कफ प्रकृति वालों को ठण्डी चीज, शीत प्रकृति की चीज नहीं खाना चाहिए।

सम्पूर्ण आयुर्विद्या (चिकित्सा विज्ञान) इस सिद्धान्त में निहित है।

हियाहार नियाहार अप्पाहर य जे नरा।
न ते विज्जातिगच्छति अप्पाण ते तिगिच्छगा।।

जो मनुष्य हित आहर, मित आहार और अल्पाहार करता है वह वैदिक चिकित्सा करने के लिए नहीं जाता है स्वयं की चिकित्सा स्वयं कर लेता है।

तहा भोत्तव्व जहां से जायमाताय भवति।
न य भवति विब्भमो न भंसणा च धम्मस्य।।

उतना भोजन करो जिससे जीवन की संयम यात्रा सुचारू रूप से गतिशील होती है। और जिससे विभ्रम उत्पन्न नहीं होता है। और धर्म भर्त्सना नहीं है।

स्वयं गौतम गणधर ने महावीर स्वामी से प्रश्न किया था

कथं चरे कथं चिट्ठे कथमासे कथं सये।
कथं भुंजेंज्ज भासेज्ज कथं पावं ण बज्झदि।। (मूलाचार)

गौतम गणधर पूछते हैं- हे भगवान! कैसा आचरण करें, कैसे ठहरें, कैसे बैठे, कैसे सोयें, कैसे भोजन करें एवं किस प्रकार बोलें जिससे पाप बंध नहीं हो ? महावीर भगवान उत्तर देते है-

जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झदि।।

हे गौतम गणधर ! यत्न पूर्वक गमन करें, यत्न पूर्वक खडे हो, यत्न पूर्वक बैठे, यत्न पूर्वक सोयें, यत्न पूर्वक आहार करें और यत्न पूर्वक बोलें इस तरह करने से पाप बँध नहीं होता है। यह है समिती का रहस्य एवं हृदय।

राग द्वेषाऽसंयम, मद-दुःख भयादिकं न यत्कुरूते
द्रव्य तदेव देयं,सुतपः स्वाध्याय वृद्धिकरम्।। *170*

यत् जो (राग द्वेषासंयमम दुःख भयादिकं) रागं, द्वेष, असंयम, मद, दुःख, भय आदि को (न कुरूते) नहीं करता है।(सुतपः स्वाध्याय वृद्धिकरं) सुतप करने में स्वाध्याय करने में जो वृद्धि करने वाला हो (तत् एवं द्रव्य देय) वही द्रव्य देने योग्य है।

जिस आहारादि से राग, द्वेष असंयम, मद, दुःख, भय आदि शब्द से घृणा, ग्लानि, दीनता, मलीनता कलह, चैरत्व, आदि होते हैं ऐसे आहारादि नहीं देना चाहिए। जिस आहारादि से राग-द्वेष आदि उपर्युक्त दुर्गुण उत्पन्न नहीं होते हैं ऐसे आहारादि देना चाहिए। जिससे अर्थात् बारह भेद रूप तप और पांच भेद रूप स्वाध्याय की वृद्धि होती

है। ऐसे आहारादि देना चाहिए।

कर्मयोगी नारायण श्री कृष्ण ने संक्षिप्त से दुःख से निवृत्त होने का उपाय बताते हुए कहा है-

युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वभाव बोधस्य योगो भवति दुःखहा।। *17* गीता

He who is moderate in food moderste in recreation moderate in necessry action, moderate in steep moderate in walking, canbe able to practise Dhuyana [yoga] the destroyer of grief.

जिसका आहार विहार नियमित है, कर्मों का आचरण नपा तुला है, और सोना, जागना परिमित है उसको यह योग दुःख घातक अर्थात् सुखावह होता है। (गीता रहस्य अथवा कर्मयोगी शास्त्र लेखक बाल गंगाधर तिलक)

जैसा होवे आहार वैसा होवे विचार एवं आचार।

जीव के शरीर उसकी द्रव्यात्मक इंद्रिया, उसके द्रव्यमन पूर्णतः भौतिक (पौद्गलिक) होने के कारण एवं उसकी भावात्मक इंद्रियाँ भाव मन की सूक्ष्म आध्यात्मिक दृष्टि से क्षयोपशमिक भाव होने से पौद्गलिक (भौतिक) है।

भोजन पानी आदि भौतिक वस्तु होने के कारण इसका भी सुप्रभाव एवं कुप्रभाव जीव के ऊपर पडना भी स्वाभाविक है। जिस प्रकार पानी की कमी होने से प्यास लगती है एवं पानी पीने से शरीर, इंद्रियाँ और मन तरोताजा हो जाते हैं इसी प्रकार शराब पीने से शरीर दुर्बल एवं रोगाक्रान्त हो जाता है, मन क्षुब्ध हो जाता है तथा विवेक नष्ट हो जाता है; इसी प्रकार शुद्ध शाकाहार, मांसाहार, शुद्ध पानी एवं नशीले पानी के बारे में भी जान लेना चाहिए। इसलिए कहा गया है - As you eat so you think and as you think so you become. Our body is what we eat.

अर्थात् जैसा आहार करते हैं वैसे विचार करते हैं, जैसे हम विचार करते हैं वैसे हम परिणाम करते हैं। हमारा शरीर वैसा है जैसा हम आहार करते हैं।

15 नारी की अरि स्वयं नारी

प्रत्येक कार्य के लिए तत्-योग्य समस्त अन्तरंग-बहिरंग कारक-कारण की आवश्यकता होती है। नारी की दुर्दशा के लिए पुरुष भी दोषी है तो नारी भी स्वयं की इस दुर्दशा के लिए कम पुरुष से दोषी नहीं है।

आज भारत में हर रोज बलात्कार के 41 अपराध दर्ज होते है, 19 महिलाओं के दहेज-मृत्यु कारित होते हैं, 31 का अपहरण होता हैं, 113 यौन उत्पीडन की शिकार होती हैं, 84 से छेडछाड की जाती हैं। नेशनल क्राइम रिकार्ड ब्यूरो के अनुसार इस 21 वीं सदी में भी हर 102 मिनट में दहेज के लिए एक महिला की हत्या हो रही है, हर 54 मिनिट में एक बलात्कार, 34 मिनिट में एक उत्पीडन व 7 मिनिट में महिला के विरुद्ध एक अपराध हो रहा है। महिलाओं के साथ होने वाले अपराधों की संख्या सालाना दो लाख पहुँच गई है। अधिकारिक आंकडे बताते हैं कि देश के किसी न किसी कोने में हर घंटे एक युवा विवाहिता को या तामार दिया जाता है या उसे मौत की तरफ ढकेल दिया जाता है। दहेज मृत्यु का सालाना आंकडा 9000 के भी पार है जो एक दशक पहले 2000 था। उत्पीडन का यह सिलसिला लगातार तेजी से बढता जा रहा है। यह सब अपराध भारत जैसे महान् सांस्कृतिक देश के लिए कलंक स्वरूप हैं, परंतु विचारणीय विषय यह है कि इन अपराधों के लिए उत्तरदायी कौन है ? कुछ दृष्टि से पुरुष से भी स्त्री अधिक दोषी है इसके साथ-साथ शिक्षा, राजनीति, कानून, समाज, टी.वी., सिनेमा, पत्र-पत्रिकायें, परिवार, हीरो-हीरोइन, नगरीय अप संस्कृति, मॉडल्स, ड्रेस डिजायनर्स, ब्यूटी पार्लर, सौन्दर्य प्रतियोगिता, किट्टी पार्टी, नाईट क्लब, विज्ञापन, अन्धाआधुनिक करण, पुलिस, सरकार, बडप्पन के प्रदर्शन, स्वतंत्रता के नाम पर स्वच्छंदता आदि आदि अनेक कारण है।

आदर्श सती नहीं हीरोइन है -

फैशन, अंगप्रदर्शन, अश्लीलता आदि में पुरुष से भी स्त्री का वर्चस्व अधिक है। टी.वी. प्रोग्राम सिनेमा, विज्ञापन, प्रदर्शन, फैशन, मॉडल, स्कूल-कालेज, सामाजिक कार्यक्रम से लेकर धार्मिक कार्यक्रम तक में फैशन आदि का राजरोब पुरुष की अपेक्षा स्त्री का अधिक है। इसे स्त्री स्वतंत्रता, प्रगतिशीलता, बोल्डनेस, अप टू डेट आदि नाम से किया जाता है। आज पुरुष पहले से भी अधिक शरीर को आच्छादित करने वाले वस्त्र पहन रहा है तो स्त्री अधिक से अधिक अश्लीलता प्रगट करने या छोटे से छोटा वस्त्र पहन रही है। जिस दिगम्बर जैन परम्परा में जैन साधु के नग्नत्व को महत्व दिया गया है उस

परम्परा में भी साध्वी को सोलह हाथ की साडी पहनने के लिए आदेश दिया गया है। इससे वर्तमान के स्त्री के अंगप्रदर्शन के साथ समीक्षा करके स्त्री को मर्यादा का ज्ञान भान कर लेना चाहिए। इसकी प्रतिक्रिया रूप से छेडछाड, बलात्कार आदि दुष्फल भी स्त्री को प्राप्त हो रहा है। भले आज भारतियों के मंदिर के आदर्श राम हो परंतु मन मंदिर के आदर्श हीरो-हीरोइन हैं। भारत आज इसका भी प्रतिफल भोग रहा है।

आदर्श माँ की ममता नहीं क्रूरता है -

माँ को लोक में दया, करुणा, सेवा, त्याग, सहिष्णुता, कोमलाता की जीवंत मूर्ति माना जाता है परंतु भारत में जो गृह कलह से लेकर दहेज यातना, गर्भपात करना-करवाना आदि क्रूर कार्यों में नराधम से अधिक नारी पिशाचीनि का योगदान अधिक है। इतना ही नहीं निर्दोष पशु-पक्षी की हत्या से निर्मित प्रसाधन सामग्री यथा नेलपॉलिश, लिपिस्टिक, शैम्पू, साबुन क्रीम, सेंट, पर्स, चप्पल आदि का प्रयोग भी नारी अधिक करती है। ममता का प्रतीक बच्चों का अमृत तथा अधिकार स्वरूप मातृ दुग्ध से भी नारी स्व संतान को वंचित रखती है वह भी स्व-वक्षज की सुंदरता की रक्षा के लिए। ऐसी नारी को सम्मान सुरक्षा मिले तो कैसे मिले ?

अनुकरण संस्कृति का नहीं अपितु विकृति का -

वह सर्विस, केरियर, आर्थिक आत्मनिर्भरता के नाम पर नौकरी (नीच चाकरी, दास वृत्ति), कर सकती है परंतु माता-पिता, गुरुजन-गुणीजन, वृद्ध-रोगी, परिवारजन की सेवा-वैयावृत्ति, व्यवस्था, सार-संभाल नहीं कर सकती है। नारी अपनी गरिमा नष्ट-भ्रष्ट करने में स्वयं ही लगी हुई है।

अनुभव एवं निष्कर्ष -

मैं विद्यार्थी जीवन से इस वर्तमान आचार्य अवस्था तक स्त्री-शिक्षा, स्वतंत्रता-अधिकार, प्रगतिशीलता, संस्कार आदि के लिए सतत रूप से 40 वर्षों से लेख, साहित्य-लेखन कार्य आदि के माध्यम से नर से भी नारी को श्रेष्ठ बनाने में प्रयासरत हूँ परंतु मधुर अनुभव के साथ-साथ जो कुछ कटु अनुभव मैंने किया उसका यथार्थ वर्णने यहाँ किया है। पंरतु खेद के साथ प्रसन्नता का विषय यह है कि अभी भी अनेक नगर या ग्राम के शिक्षित या निरक्षरी, धनी या गरीब, आबालवृद्धवनिता सद्भाव-सद्व्यवहार, सुसंस्कृत से युक्त हैं भले इनकी संख्या उपर्युक्त प्रदुषित जन से कम क्यों न हो। ऐसे व्यक्ति ही उपर्युक्त मानसिक, सामाजिकादि प्रदूषणों को दूर या कम कर सकते हैं।

16 अहितकारी भी है ज्ञान

"णाणं पयासणं" "नहि ज्ञानेन सदृश्यं पवित्रमिहविद्यते" "Knowledge is supreme light. Knowledge is supreme power" "पढमं णाणं तदो दया, अण्णाणं किं जाणइ पुण्ण पावगं बंध मोक्खय" "ज्ञानं विहिनं पशु" आदि सूत्र से ज्ञान की महानता, पवित्रता, श्रेष्ठता के बारे में प्रकाश डाला गया है। यह विशेषण यथार्थ ज्ञान/सम्यग्ज्ञान/समताज्ञान/हिताहित विवेक पूर्ण ज्ञान के लिए है न कि अयथार्थज्ञान मिथ्याज्ञान/विषमतापूर्णज्ञान, अविवेकपूर्ण ज्ञान के लिए है। यथार्थ ज्ञान का स्वरूप एवं उसका फल निम्नोक्त है -

जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सेएसु रज्जदि।
जेण मित्तीं पभावेज्ज तं जिणसासणे।। *268*

जिसके द्वारा जीव राग से विरक्त होता है, जिसके द्वारा मोक्ष में राग करता है, जिसके द्वारा मैत्री को भावित करता है जिन शासन में वह ज्ञान कहा गया है।

हिताहित प्राप्ति परिहार समर्थ हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्। परिक्षामुख

जिससे हित की प्राप्ति अहित का परिहार होता है वह प्रमाण है जो कि सम्यग्ज्ञान स्वरूप है।

"अज्ञान निवृत्तिहानोपादानोपेक्षाश्च फलम्"। परीक्षामुख सू.5

अज्ञान की निवृत्ति अहित का त्याग, हित की प्राप्ति, वीतराग स्वरूप निरपेक्षरूप समता भाव यह सम्यग्ज्ञान का फल है।

उपर्युक्त ज्ञान के स्वरूप, कार्य एवं फल के विपरीत जो ज्ञान सत्य को सम्यक् रूप से नहीं जानता है, हित को ग्रहण नहीं करता है एवं अहित का परित्याग नहीं करता है वह ज्ञान अहितकारी है जैसा कि निर्धुम अग्नि प्रकाशक है, दाहक है, पाचक है परंतु प्रचुर धुआँ सहित अग्नि प्रकाशक के विपरीत प्रकाश रोधी है, मन्द दाहकत्व है, दुषित, कुत्सित पाचक है वैसा ही यथार्थ एवं अयथार्थ ज्ञान का स्वरूप, कार्य एवं फल में जानना चाहिए।

णाणं दोसे णासिदि णरस्य इंदियकसायविजयेण।
आउहरणं पहरणं जह णासेदि अरिं ससत्तस्स।। *1331 म.आ.*

इंन्द्रिय और कषाय को जीतने से ज्ञान मनुष्य के दोषों को नष्ट करता है जैसे सत्व शालिका आयु को हरने वाला शस्त्र शत्रु को नष्ट करता है।

णाणंपि कुणदि दोसे णरस्य इंदियकसायदोसेण।
आहारो वि हु पाणो णरस्य विससंजुदो हरदि।। *1332*

इन्द्रिय और कषायरूप परिणामों के दोष से ज्ञान भी मनुष्यों में दोष उत्पन्न करता है। दूसरे के संसर्ग से उपकारी भी अनुपकारी हो जाता है। जैसे आहार प्राण धारण में निमित्त है किंतु विष से मिला आहार प्राणों का घातक होता है।

णाणं करेदि पुरिसस्स गुणे इंदियकसायविजयेण।
बलरूववण्णमाऊ करेहि जुत्तो जघाहारो।। *1333*

और इंद्रिय कषायों को जीतने से ज्ञान पुरुष में गुण उत्पन्न करता है। जैसे विष से रहित उत्तम आहार बल, रूप, तेज और आयु को बढाता है।

णाणं पि गुणे णासेदि णरस्स इंदियकसायदोसेण।
अप्पवघाए सत्थं होदि हु कापुरिसहत्थगयं।। *1334*

इंद्रिय और कषाय रूप परिणामों के दोष से ज्ञान भी पुरुष के गुणों को नष्ट करता है। जैसे कायर पुरुष के हाथ में गया शस्त्र उसके ही वध में निमित्त होता है।

सबहुस्सुदो वि अवमाणिज्जादि इंदियकसायदोसेण।
णरमाउधहत्थंपि हु मदयं गिद्धा परिभवंति।। *1335*

इंद्रिय और कषायों के दोष से अच्छे प्रकार से बहुत से शास्त्रों का ज्ञाता भी, विद्वान भी अपमान का पात्र होता है। जैसे शस्त्र हाथ में होते हुए भी मरे मनुष्यों को गिद्ध खा जाते हैं।

इंदियकसायवसगो बहुस्सुदो वि चरणे ण उज्जमदि।
पक्खीव छिण्णपक्खो ण उप्पडदि इच्छमाणो।। *1336*

इंद्रिय और कषाय के वश में हुआ बहुश्रुत विद्वान भी चारित्र में उद्योग नहीं करता। जैसे जिसका पंख कट गया है ऐसा पक्षी इच्छा करते हुए भी नहीं उड सकता।

णस्सदि सगं बहुगं पि णाणमिंदियकसायसम्मिस्सं ।
विससम्मिसिददुद्धं णस्सादि जध सक्कराकढिद।। *1337*

इंद्रिय कषाय के योग से बहुत भी ज्ञान स्वयं नष्ट हो जाता है। जैसे शक्कर के साथ कढा हुआ दूध विष के मिलने से नष्ट हो जाता है अर्थात् अपने स्वभाव को छोड देता है। यहाँ शक्कर के साथ कढाया हुआ कहने से मिठास के कारण दूध की सातिशयता बतलायी है। ऐसा दूध भी विष के मेल से हानिकारक होता है।

इंदियकसायदोसमलिणं णाणं वट्टदि हिदे से।
वट्टदि अण्णस्स हिदे खरेण जह चंदणं ऊढं।। *1338*

जिसका ज्ञान होता है उसीका उपकारी होता है। यह बात प्रसिद्ध है। किंतु इंद्रिय कषाय से मलिन ज्ञान जिसका होता है, उसका उपकार नहीं करता, दूसरों का उपकार करता है। जैसे गधे पर लदा चंदन दूसरों का उपकार करता है।

इंदियकसायणिग्गहणिमीलिदस्स हु पयासदि ण णाणं।
रत्तिं चक्खुणिमीलस्स जघा दीवो सुपज्जलिदो।। ***1339***

इंद्रिय और कषायों का निग्रह करने में जो अपना उपयोग नहीं लगाता अर्थात् इंद्रिय और कषाय से प्रभावित है, उसका ज्ञान वस्तुस्वरूप का प्रकाशक नहीं होता। जैसे, जिसके आँखे मुंदी हैं उसके लिए तीव्रता से जलता हुआ दीपक पदार्थ का प्रकाश नहीं करता।

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्ति परेषां परपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतत् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय।।

अपवित्र विचार वाला दुर्जन विद्या को प्राप्त करके वाद-विवाद, कलह करता है, धन प्राप्त करके भोग-राग, दिखावा, अहंकार में मस्त हो जाता है, शक्ति प्राप्त करके दूसरों को सताता है। पवित्र विचार वाला सज्जन इससे विपरीत विद्या से स्व-पर के अज्ञान रूपी अंधकार को दूर करके ज्ञानरूपी प्रकाश को प्रकाशित करता है, धन प्राप्त करके योग्य क्षेत्र में योग्य व्यक्ति में दान देता है। तथा शक्ति से दूसरों की रक्षा करता है। पौष्टिक तत्त्व से भरपूर फलादि भी जब सड जाते हैं तो विषाक्त हो जाते हैं। तथा उसी फलादि के भक्षण से विभिन्न रोग भी हो जाते हैं और मृत्यु भी हो सकती है। इसी प्रकार जब शिक्षा और शिक्षक में या विद्यार्थी में विकार उत्पन्न होता है या दुरुपयोग किया जाता है तो उसका प्रतिफल भयावह होता है। जिस प्रकार रावण के पास विद्या, बुद्धि, सत्ता होते हुए भी उसने उसका दुरूपयोग किया जिससे स्व नाश के साथ-साथ लंका के नाश का भी कारण बना। जिस गुरु से, जिस वंश से, जिस देश से पाण्डवों का सम्बन्ध रहा कौरवों का भी उनसे रहा। तथापि पाण्डवों ने विद्यादि का सदुपयोग करके यश, राज्य तथा उत्तम गति को प्राप्त किया परंतु कौरवों ने उसका दुरुपयोग करके अयश, मृत्यु तथा दुर्गति को प्राप्त किया । इसी प्रकार आसुरी प्रवृत्ति वाले व्यक्तियों में भी बुद्धि, विद्या, सत्ता होती है परंतु उसका दुरुपयोग करके पर को कष्ट पहुँचाते हैं। आइन्स्टीन तथा उनके सहयोगी ने अणु अस्त्र का अविष्कार जन कल्याण के लिए किया था परंतु अमेरिका ने उसी को द्वितीय युद्ध के समय हिरोशीमा और नाकासाकी के ऊपर

डालकर लाखों व्यक्ति एवं करोडों की सम्पत्ति को नष्ट कर डाला। प्राचीन विभिन्न साहित्यों के परिज्ञान से स्पष्ट सिद्ध होता है कि अधिकांशतः अधिकांश व्यक्ति विद्या, बुद्धि, सम्पत्ति, सत्ता का दुरुपयोग ही करते हैं। ऊपर मैंने कुछ व्यक्तियों के उदाहरण दिये। अब मैं कुछ राष्ट्र एवं जाति के उदाहरण देकर सिद्ध कर रहा हूँ कि शिक्षादि का दुरुपयोग किस प्रकार से करते हैं। अंग्रेजी जाति जब शिक्षित, समृद्ध, शक्तिशाली थी तब कूटनीति से धर्मप्रचार के बहाने या व्यापार फैलाने के दृष्टि से दूसरें देशों को अपना उपनिवेश बनाते थे, परतंत्र करते थे, शोषण करते थे। जिस प्रकार गोरी जाति वालों ने (गोरी चमडी वाले) काली जाति (काली चमडी वालों) का खूब शोषण किया उन्हें दास बनाया, उनको पराधीन किया, उनकी हत्या की। उसी प्रकार जब जो राज्य या राष्ट्र शिक्षादि में संपन्न रहा तब उस ने दूसरों को लूटा-खसोटा, पराधीन किया इसलिए विवेक वान को शिक्षा का, ज्ञान का सदुपयोग एवं दुरुपयोग दोनों को लक्ष्य में रखकर कार्य करना चाहिए।

मेरा (आ. कनकनंदी) 45 वर्षों का, तेरह प्रदेशों के हर विधा के लाखों व्यक्तियों का अनुभव है कि धार्मिक या लौकिक कम ज्ञान वाले सरल-सहज, सादा-सीदा व्यक्ति उन कागजी रटंत धार्मिक या लौकिक जानकारी रखने वालों से अधिक विनम्र, सज्जन, परोपकारी, परिश्रमी, दानी, धार्मिक, निष्ठावान, सामाजिक, व्यवहारिक होते हैं। यहाँतक कि कागजी धार्मिक जानकारी रखने वाले या ढोंगी धार्मिक लोग सामान्य लोगों से भी अधिक दुर्जन पाये जाते हैं। उनमें धर्मान्धता, कट्टरता, संकीर्णता, धूर्तता, भेद-भाव, ईर्ष्या-द्वेष, कुटिलता, स्वार्थपरता आदि दुर्गुण पाये जाते हैं। इसलिए वे सदा सर्वदा, सर्वत्र अधिक दुःखी, तनावयुक्त, संक्लेशित रहते हैं और स्व-पर, राष्ट्र-विश्व के लिए अभिशाप स्वरूप होते हैं। अतः सत्यनिष्ठ, समतापूर्ण, उदारता से युक्त, तनाव रहित ज्ञान हितकारी, उपकारी, गुणकारी है तथा मिथ्या आधारित, विषमता पूर्ण संकीर्ण तनाव रहित ज्ञान अहितकारी, अनुपकारी, अगुणकारी है।

17 कौन होते हैं यथार्थ से धार्मिक ?

विभिन्न आकार-प्रकार के बर्तनों में रखा हुआ पानी का आकार तत्-तत् बर्तन के अनुसार होने पर भी पानी का यथार्थ आकार तथा स्वरूप बर्तनानुसार नहीं है। पानी का यथार्थ स्वरूप/लक्षण तो तरल, शीतल, पारदर्शी, निम्नगामी, अग्नि तथा प्यास शामक, H_2O आदि है। इसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य का धर्म है "वत्थु सहावो धम्मो" अर्थात् स्व-स्व शुद्ध स्वभाव ही स्व-स्व शुद्ध धर्म है। विस्तार से जीव का शुद्ध स्वरूप है - अहिंसादि पांच रूप या उत्तम क्षमादि दस रूप।

जिसप्रकार अग्नि के संपर्क से पानी गर्म होने के बाद भी पानी को अग्नि से पृथक् करने पर पानी धीरे-धीरे शीतल हो जाता है उसी प्रकार प्रत्येक जीव स्वयं के लिए अहिंसा आदि चाहता है उससे उसे शांति मिलती है। हिंसा, क्रोधादि में कोई भी जीव चिरकाल तक नहीं रह सकता है क्योंकि इससे उसे शांति नहीं मिल सकती, परंतु अहिंसा, क्षमादि में चिरकाल तक रह सकता है। क्योंकि इससे उसे शांति मिलती है, सर्वांगीण विकास होता है। क्रोधादि के कारण भावों में आकुलता-व्याकुलता, व्यग्रता-चंचलता, पीडादि होती है इससे पाप कर्म का बंध होता है, कुसंस्कार पडते हैं जिससे शरीर, मन मस्तिष्क, तंत्रिकातंत्र, इंद्रियाँ, ग्रंथियाँ आदि में विपरीत प्रभाव पडता है। ग्रथियों से अहितकारी विषाक्त स्राव निकलता है। जिससे तनाव, अवसाद, उन्माद, फोबिया, हिस्टीरिया, पागलपन, स्मृतिलोप, निम्न एवं उच्च रक्तचाप, हार्टअॅटेक, अल्सर, ब्रेनहमरेज, लकवा आदि शारीरिक एवं मानसिक रोग होते हैं। इतना ही नहीं, इससे व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय, वैश्विक, पर्यावरणीय अनेक समस्याएँ, विप्लव आदि प्रत्यक्ष परोक्ष रूप से उत्पन्न होते हैं। इससे विपरीत अहिंसा, क्षमादि के कारण भावों में पवित्रता, निर्मलता, स्थिरता, शांति आदि होती है, जिससे पुण्य कर्म बंध होता है। अतः शरीर, मन, मस्तिश्क, तंत्रिकातंत्र, इंद्रियाँ, ग्रंथियाँ आदि में अनुकुल प्रभाव पडता है, ग्रंथियो से हितकारी, रोगप्रतिरोधकारी अमृतोपम स्राव निकलते हैं जिससे अनेकानेक शारीरिक, मानसिक रोग दूर होते हैं। रोग, कषाय, तनाव, अवसाद, प्रतिरोधक शक्ति बढती है, तथा फल स्वरूप शारीरिक, मानसिक, भावात्मक (आध्यात्मिक) स्वास्थ्य लाभ होते हैं, उनका विकास होता है, इससे व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय, वैश्विक, पर्यावरणीय अनेक समस्याएँ, विप्लव आदि प्रत्यक्ष परोक्ष रूप से दूर होते हैं। इतना ही नहीं अहिंसा, क्षमादि के

कारण जीव समस्त शारीरिक, मानसिक, भावात्मक, आध्यात्मिक बंधन, दुःख समस्याओं को समग्रता से समूल नष्ट करके स्व-शुद्ध स्वरूप "सच्चिदानंदम्" "सत्यं शिवं सुंदरम्" "विज्ञानघन स्वरूपं" "सत्य-साम्य-सुखामृतं" को प्राप्त कर लेता है।

"न धर्मो धार्मिकै र्बिना" अर्थात् धार्मिक के बिना धर्म एवं धर्म के बिना धार्मिक नहीं होते हैं। इसलिए जो जितने-जितने अंश में अहिंसा, क्षमादि धर्म से युक्त होगा वह उतने-उतने अंश में धार्मिक होगा। बाह्य भौतिक, पंथ, मत, रीति-रिवाज, पुजा-पाठ, पर्व, तीर्थयात्रा, अध्ययन-अध्यापन, भाषण-संभाषण, रूप-रंग, वेषभूशा, धर्मायतनादि निर्माण, संरक्षण, संवर्द्धन के लिए कारण बनते हैं तो वे सब धर्म के बाह्य निमित्त बनेंगे, अन्याथा उपर्युक्त निमित्त/साधन के बदले में बाधक होंगे। क्योंकि आत्मा अमूर्तिक, ज्ञानानन्दमय, शान्त स्वरूप होने से उसके गुणधर्म, लक्षण भी तन्मय-स्वरूप, अमूर्तिक, ज्ञानानन्दमय, शान्तस्वरूप हैं, तथा उपर्युक्त सम्पूर्ण बाह्य निमित्त पर जडात्मक, भौतिक रूप हैं। इसलिए ये भाव जीव के नहीं हो सकते हैं। जैसा कि वस्त्र की स्वच्छता गन्दगी के कारण मलिन हो जाती है उस मलिनता को दूर करने के लिए साबुन, सोडा बाह्य निमित्त/साधन हैं, परंतु स्वच्छता गुण वस्त्र का स्वभाव है, न कि साबुन आदि का। साबुन आदि के कारण उसका स्वभाव प्रगट होता है। यदि साबुन आदि से गंदगी दूर नहीं होती है, स्वच्छता नहीं आती है वरन् गंदगी और बढती है, तब साबुन आदि बाह्य बाधक हो जाते हैं न कि साधक। इसी प्रकार धर्म एवं धर्म के बाह्य कारणों के लिए जान लेना चाहिए।

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संयमो तवो ।
देवा वि तस्स पणमंति जस्स धम्मे सयामणो।।

धर्म ही लोक में उत्कृष्ट मंगल है, अहिंसा धर्म है, संयम धर्म है एवं तप धर्म है। जिसका मन सर्वदा धर्म में लीन रहता है, उसको स्वर्ग के देव भी नमस्कार करते हैं।

संक्षिप्त में धर्म की विभिन्न परिभाषायें

वत्थु सहावो धम्मो अहिंसा खमादि आद धम्मो।
रयणत्तयं य धम्मो अणयंत सुभावणा धम्मो।। (आ. कनकनंदी)

वस्तु का स्वभाव धर्म है, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह एवं नाम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य आत्मधर्म हैं। रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र धर्म हैं।

अनेकान्त (स्याद्वाद), बारह भावना एवं मैत्री, करुणा, प्रमोद, माध्यस्थ भाव भी धर्म हैं।

धम्मस्स लक्खणं से अज्जवलहुगत्तमद्दवुवदेसा।
उवदेसणा य सुत्ते णिसग्ग जावो रूचीओ दे।। भ.आ. *1704*

आर्जव, लघुता, मार्दव, उपदेश और जिनागम में स्वाभाविक रुची ये धर्म ध्यान के लक्षण हैं।

जिससे धर्मध्यान की पहिचान होती है वह उसका लक्षण है। एक धागे को दोनों ओर से तानने पर जैसे उसमें कुटिलता नहीं रहती, सरलता रहती है उसी प्रकार की सरलता को आर्जव कहते हैं। लघुता अनासक्ति और निर्लोभता को कहते हैं। जाति आदि आठ बातों का गर्व न करना मार्दव है। उप अर्थात् किसी के पास जाकर देश अर्थात् जिनमत का कथन करना उपदेश है अर्थात् हितोपदेश है। आर्जव आदि कार्यों से धर्मध्यान पहचाना जाता है। इसलिए आर्जवादि धर्मध्यान के लक्षण हैं। आर्त और रौद्र ध्यान वालों को आर्जवादि नहीं होते हैं। जो आत्मा के आर्जवादि रूप परिणाम करता है वह धर्मध्यान है। इस प्रकार आर्जवादि धर्मध्यान के लक्षण हैं। अथवा आर्जवादि परिणाम के होने पर ही धर्मध्यान होता है। आर्जवादि के आभाव में नहीं होता। जो मान, माया और लोभ से घिरा रहता है, वह धमै में प्रवृत्ति नहीं करता। अतः आर्जवादिक धर्मध्यान के कारण हैं उनसे धर्मध्यान की पहचान हो है। इसलिए आर्जवादि धर्मध्यान के लक्षण हैं।

क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी के अनुसार - "जिनका जीवन सरल, शांत व दया पूर्ण हो, जिनके शब्दों में माधुर्य हो, करुणा हो और सर्व सत्व का हित हो, सभ्यता हो, जिनके वचन में पक्षपात की बू न आति हो, जो हठी न हो, संपूर्ण संप्रदाय के आधार पर सत्यता को सिद्ध करने का प्रयत्न न करता हो, वाद-विद रूप चर्चा करने से डरता हो, आपके प्रश्नों को शांति पूर्वक सुनने की जिसमें क्षमता हो तथा धैर्य से, कोमलता से उसे समझने का प्रयत्न करता हो, आपकी बात सुनकर क्षोभ न आता हो, जिसके मुख पर मूस्कान खेलती हो, विषय-भोग के प्रति जिसे अन्दर से कुछ उदासी हो, प्राप्त विषयों के भोग से भी जो घबराता हो, तथा उसका त्याग करने से उसे संतोष होता हो, अपनी प्रशंसा सुनकर कुछ प्रसन्नता तथा निंदा सुनकर कुछ रुष्ठ सा प्रतित न होता हो तथा अन्य भी इसी प्रकार के चिन्ह हैं जिसके द्वारा स्थूल रूप से आप वक्ता/धार्मिक की परीक्षा कर सकते हैं।

18 प्रत्येक धर्मावलम्बी स्व-स्व धर्म विरोधी

मैं इस लेख में कर्तावाद या अकर्तावाद के वैज्ञानिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक, व्यवहारिक, अनुभवात्मक सिद्धांतों की समीक्षा किये बिना केवल उन-उन मत को मानने वालों में जो स्व-स्व मत के विपरित व्यवहार पाये जाते हैं उसके बारे में कुछ समीक्षा करुंगा। कर्ता या अकर्तावाद की समीक्षा मैंने मेरी 1) विश्व विज्ञान रहस्य 2) अनेकान्त सिद्धांत 3) कौन है विश्व का कर्ता-धर्ता-हर्ता आदि कृतियों में कि है जो की जिज्ञासुओं के लिए पठनिय है।

ईश्वर कर्तावादी भी स्व-धर्म विरोधी

कर्तावादीयों के अनुसार विश्व की संपूर्ण रचनायें यथा - पृथ्वी, सूर्य, चंद्र, ग्रह, नक्षत्र, जीव-जंतु, कीट-पतंग, मनुष्य, देव, नारकी आदि समस्त जीव जगत्, जल-वायु आदि भौतिक तत्त्व भी ईश्वर द्वारा निर्मित, नियंति, परिचालित है। प्रत्येक जीव के निर्माता ईश्वर होने से प्रत्येक जीव उनकी संतान हैं। इस दृष्टि से प्रत्येक जीव परस्पर भाई-बहन हैं; भले वे किसी भी प्रजाति के जीवजंतु हो, किसी भी देश के हो, किसी भी भाषा-भाषी हो, किसी भी संप्रदाय के हो या किसी भी संप्रदाय को भी नहीं मानने वाला नास्तिक, काफिर, अधार्मिक ही क्यों न हो।

इस दृष्टि से किसी भी जीव को कष्ट पहुँचाना, मारना, हत्या करना अपने ही ईश्वर की कृति को क्षति पहुँचाना है, अपने ही भाई-बहन को कष्ट देना है। परंतु विश्व इतिहास साक्षी है तथा प्रत्यक्ष से सिद्ध है कि ईश्वर को कर्ता मानने वाले अधिकांश व्यक्ति भी अन्य जीवों को, विधर्मियों को यहाँ तक की अपने ही धर्म के भिन्न संप्रदाय (मत, गुट, पंथ, मत) वालों से घृणा करते हैं, कष्ट देते हैं, यहाँ तक की हत्या तक करते हैं। ऐसा करते हुए भी वे स्वयं को सच्चा ईश्वर भक्त मानते हैं और ऐसे कार्य को ईश्वर/धर्म के कार्य मानते हैं। इसे वे धर्म प्रचार, ईश्वर का काम, धर्म की सेवा/रक्षा या धर्म प्रचार-प्रसार मानते हैं।

क्या ईश्वर इतना निर्दयी, अन्यायी, अज्ञानी, असहाय, किंकर्तव्यविमूढ, असमर्थ, संवेदनहीन है जो अपनी कृति, सृष्टि, संतान तथा व्यवस्था को नष्ट भ्रष्ट करने वालों को उचित मानेगा और उसे अपना भक्त मानकर स्वर्ग, मोक्ष (ईश्वर प्राप्ति) या उत्तम सुख-सुविधा, आशीर्वाद प्रदान करेगा और प्रसन्न होगा। कोई कर्तावादी अपने-अपने ईश्वर/भगवान् को निर्दयी, अन्यायी, अज्ञानी आदि

गुणों से युक्त नहीं मानते हैं। सब मानते हैं कि ईश्वर दयालु, महान् ज्ञानी, न्यायशील आदि अच्छे-अच्छे गुणों से युक्त हैं। जो जिस गुणों से युक्त होता है वह भी उस गुणों से युक्त व्यक्ति को अच्छा मानता हैं, स्वीकार करता हैं इस नीति के अनुसार यदि ईश्वर के अनुयायी/भक्त/ आशीर्वाद प्राप्त करनेके योग्य बनना चाहते हैं या स्वर्ग/मोक्ष प्राप्त करना चाहतें हैं तो उनके (ईश्वर के) गुणों (दया, न्यायादि) को जीवन में स्वीकार करो अन्य कोई उपाय नहीं है। जो प्रलोभन, चापलुसी, बाह्यक्रियाकाण्ड, भौतिक वस्तुओं की भेंट, पशु-पक्षी या मनुष्य की बली, पवित्र भावना रहित शाब्दिक प्रार्थना आदि से ईश्वर को प्रसन्न करना चाहते हैं तो क्या उनका ईश्वर ऐसा है जो इन प्रलोभनादि से प्रसन्न हो जायेंगे। प्रत्येक जड-चेतनात्मक द्रव्य यदि ईश्वर कृत है/ईश्वर के अंश है तो किसी भी द्रव्य को क्षति पहुचाना भी साक्षात् ईश्वर को क्षति पहुँचाना है।

ईश्वर अकर्तावादी भी स्व-धर्म विरोधी

जो ईश्वर को विश्व के तथा जीव जगत् के कर्ता-धर्ता-हर्ता नहीं मानते हैं वे ईश्वर अकर्तावादी हैं। इनके मतानुसार ब्रह्माण्ड के समस्त द्रव्य, जीव जगत्, सूर्य, चंद्र, जल, वायु आदि अकृत्रिम, शाश्वतिक तथा परिणमनशील है। प्रत्येक जीव भी शाश्वतिक, अकृत्रिम तथा स्व-भाग्य (कर्म) तथा पुरुषार्थ (क्रिया) के कारण सुख-दुःख अनुभव करते हैं। जो स्व आत्मविश्वास , विवेक, पुरुषार्थ करते हैं वे स्वयं क्रम विकास करते करते स्वर्ग, मोक्ष/निर्वाण को प्राप्त करते हैं। अर्थात् सत्य, अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा, नम्रता, सरलता, शुचिता (निर्लोभता), सेवा, परोपकार, तप, त्याग, ध्यानादि पुरुषार्थ से वे स्वयं मानव से महामानव तथा महामानव से भगवान् बन जाते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक जीव स्वतंत्र सत्तवान् है और वे भी उपर्युक्त गुणों से/पुरुषार्थ से भगवान् बन सकते हैं। अर्थात् प्रत्येक जीव स्वतंत्र-स्वतंत्र रूप से भगवत् शक्ति संपन्न हैं। परंतु प्राचीन साहित्यों से तथा प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध है कि इस मत के अधिकांश अनुयायी भी स्व-मत के विरुद्ध आचरण करने वाले हैं, क्योंकि वे भी स्व-मत को नहीं माननेवाले को परमतावलम्बी, मिथ्यादृष्टि आदि मानकर उनसे घृणा करते हैं, द्वेष करते है, भेद-भाव से लेकर हत्या तक करते हैं। इतना ही नहीं स्व-धर्म के भी भिन्न-भिन्न मतावलम्बियों से भी घृणादि करते हैं।

प्रत्येक द्रव्य तथ जीवों की सत्ता अलग अलग मानने वाले ये अकर्तावादी भी दूसरे निर्जीव द्रव्य तथा अन्य जीवों की सत्ता का दुरुपयोग करते हैं, शोषण करते है, क्षति पहुँचाते हैं भेग/उपभोग करते हैं, तथा स्वयं कर्ता-भोक्ता-हर्ता

बनकर स्वयं के अकर्तावादी ही स्वयं विरोध/विध्वंस करते हैं। प्रत्येक जीव यदि प्राकृतिक रूप से स्व-कर्म तथा पुरुषार्थ से विभिन्न गति, अवस्था, विचार आदि को प्राप्त करते हैं; तब जो इनके विचार आदि के अनुकुल नहीं है तब भी उनसे घृणा आदि नहीं करना चाहिए। क्योंकि यह भी उनके मतानुकूल हैं। उनके मत में इसे मान्यता दी गई है। प्रत्येक जीव भी स्वतंत्र-स्वतंत्र ईश्वर/भगवान् (शक्ति या व्यक्ति की अपेक्षा) है तो किसी भी जीव को कष्ट देना साक्षात् भगवान् को कष्ट देना है। कर्तावादी के अनुसार तो ईश्वर की कृति या ईश्वर-अंश को क्षति पहुँचता है परंतु अकर्तावादी के अनुसार तो साक्षात् पूर्ण ईश्वर को क्षति पहुँचाना है। इतना ही नहीं जितने जीवों को कष्ट पहुँचेगा उतने ईश्वर के साथ-साथ कष्ट देने की दुष्ट भावना से स्व-भगवान् को भी कष्ट पहुँचाना है।

मूर्तिपूजक या अमूर्तिपूजक भी स्व-स्व धर्म विरोधी

इसी प्रकार मूर्तिपूजक को अमूर्तिपूजक, जडपूजक/बुतपरस्ती/ काफिर/मुर्ख मानकर घृणादि करते हैं उनकी मूर्ति, मंदिर, सभ्यता, संस्कृति, साहित्य, स्त्रियों को क्षति पहुँचाते हैं। क्या वे अपने जडात्मक धार्मिक ग्रन्थ, प्रतिक, आराधना स्थलादि का सुरक्षा, सम्मान, आदर, फूल, अगरबत्ती चढाना आदि से जड पूजा नहीं करते हैं। अमूर्तिपूजक को जो मूर्तिपूजक गलत मानते हैं वे क्या जडात्मक मूर्ति आदि को साक्षात् भगवान मानते है? क्या भगवान् निर्जीव जड मूर्ति स्वरूप है? क्या भगवान् मूर्ति में ही समावेश/कैद है जो मूर्ति की पूजा नहीं करता है परन्तु सद्विचार सदाचार आदि से युक्त हैं वे क्या धार्मिक नहीं हैं? सद्विचार आदि से रहित व्यक्ति केवल मूर्तिपूजा से क्या धार्मिक बन सकता है।

अधार्मिक भी स्व-धर्म विरोधी-

कुछ व्यक्ति उपरोक्त या अयोग्य धार्मिक जनों के कुकृत्यों को गलत मानकर तथा कथित या प्रचलित किसी भी धर्म को मानते नहीं हैं, पालते नहीं हैं, परन्तु वे भी धार्मिक जनों को मूर्ख, अंध-विश्वास, रूढिवादी आदि मानकर उनसे भी घृणा आदि करते हैं। वे ईश्वर, कर्म, इहलोक, परलोक, स्वर्ग, नरक, मोक्ष आदि नहीं मानने के कारण वे उत्श्रृंखल, भोग-विलासी, अनम्र, अतिसाहसी आदि दुर्गुणों से युक्त हो जाते हैं जिन दुर्गुणों के कारण वे तथा कथित धार्मिक नहीं बने। इसलिए वे भी अपने धर्म (उद्देश्य, कार्य) विरोधी होते हैं।

प्रायः कीट पंतंग, वनस्पति, पशु-पक्षी आदि किसी भी प्रचलित धर्म को न मानते हैं, न पालते हैं तो क्या उन्हें हर प्रकार के धर्मावलम्बीयों के द्वारा घृणा करना, क्षति पहूँचाना धर्म हैं/यथार्थ है ? क्या वनस्पति से लेकर पशु-पक्षी के अभाव

से किसी भी प्रकार के धर्मावलम्बीयों का जीवन निर्वाह संभव हैं ? पर्यावरण की सुरक्षा के लिए, विश्व के संतुलन (संरचना, व्यवस्था) के लिए प्रत्येक जड चेतनात्मक घटक की महति भूमिका है। जिस प्रकार इनके सह अस्तित्व को हर धर्मावलम्बी स्वीकार करते हैं, लाभ उठाते हैं सुरक्षा करते हैं, समृद्धि करते हैं वैसा ही हर धर्मावलम्बीयों को परस्पर में करना चाहिए। परन्तु मनुष्य की दुर्बुद्धि है कि वनस्पति आदि से भी जैसा सद्व्यवहार करता है वैसा व्यवहार मनुष्य से नहीं करता है।

कर्तावादियों का कर्तव्य

ईशां वास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यास्विद् घनम्।। ई.उ.

मनुष्यों के प्रतिवेद भगवान् का पवित्र आदेश है कि अखिल विश्व-ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी यह चराचरात्मक जगत् तुम्हारे देखने-सुनने में आ रहा है, सब-का सब सर्वाधार, सर्वनियन्ता, सार्वधिपति, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वकल्याण गुण स्वरूप परमेश्वर से व्याप्त है; सदा सर्वज्ञ उन्हीं से परिपूर्ण है (गीता)। इसका कोई भी अंश उनसे रहित नहीं है (गीता)। यो समझकर उन ईश्वर को निरन्तर अपने साथ रखते हुए सदा-सर्वदा उनका स्मरण करते हुए ही तुम इस जगत् में ममता और आसक्ति का त्याग करके केवल कर्तव्य पालन के लिए ही विषयोंका यथाविधि उपभोग करो अर्थात्- विश्वरूप ईश्वर की पूजा के लिए ही कर्मोंका आचरण करो। विषयों में मन को मत फसने दो, इसी में तुम्हारा निश्चित कल्याण है (गीता)। वस्तुतः ये भोग्य पदार्थ किसी के भी नहीं है। मनुष्य भूलसे ही इनमें ममता और आसक्ति कर बैठता है। ये सब परमेश्वर के हैं और उन्हीं की प्रसन्नता के लिए इनका उपयोग होना चाहिए। (ईशा.उप.) अर्थात् प्रत्येक जीव द्रव्य के साथ समता का व्यवहार करो।

अकर्तावादिओं का कर्तव्य

किनहुँ न करौ न धरे को, षट्द्रव्यमयी न हरै को।
सो लोकमांहि बिन समता, दुःख सहै जीव नित भ्रमता।। छह.

इस शाश्वतिक, प्राकृतिक षट्द्रव्यमयी विश्व में यह मूढ प्राणी वीतरागमय शांतरूप से रहित होकर विभिन्न दुःखों को सहता हुआ सतत् परिभ्रमण कर रहा है। यह विश्व भौतिक, आध्यात्मिक आदि भेदों से अनेक प्रकार का है। भौतिक दृष्टिकोण से इस विश्व के चार भेद हैं- 1) अधोलोक 2) मध्यलोक 3) उर्ध्वलोक 4) सिद्धलोक। इसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टिकोण से चार प्रकार का है - 1) पाप (नरक, तिर्यंच) 2) पुण्य-पाप (मनुष्य) 3) पुण्य (देव) 4) पुण्यपापातित

(शुद्ध आत्मलोक अर्थात् सिद्ध)।

प्रसिद्ध सूक्ति है कि 'जो पिण्डे सो ब्रह्माण्डे' अर्थात् जैसा विचार तैसा संसार, जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि, जैसी मति वैसी गति। भावानुसार कर्म संचय होता है और कर्मानुसार संसार में विभिन्न गतिको प्राप्त करके जीव विभिन्न क्षेत्रों में उत्पन्न होता है।

एवं कत्ता भोत्ता होज्ज अप्पा संगेहिं कम्मोहिं।
हिंड्दि पारमपारं संसार मोहसच्छण्णो।। पंचास्ति.

इस प्रकार अपने कर्मों से कर्ता भोक्ता होता हुआ आत्मा मोहाच्छादित वर्तता हुआ अनंत संसार में परिभ्रमण करता है। इस प्रकार प्रगट प्रभुत्व शक्ति के कारण जिसने अपने कर्मोंद्वारा कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व का अधिकार ग्रहण किया है ऐसे इस आत्मा को अनादि मोहाच्छादिपने के कारण विपरीत अभिनिवेश की उत्पत्ति होने से सम्यग्ज्ञान ज्योति अस्त हो गई है, इसलिए यह सान्त अथवा अनंत संसार में परिभ्रमण करता है।

यथार्थ धर्म

"वत्थु सहावो धम्मो" (वस्तु का स्वभाव धर्म है) **"जीवाणां रक्खणं धम्मो"** (जीवों की रक्षा करना धर्म है) **"यतोऽभ्युदयानिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः"** (जिससे सांसारीक एवं आध्यात्मिक सिद्धि हो वह धर्म है) **"धर्मः सर्व सुखाकरो हितकरी"** (धर्म सर्व सुख एवं हित करने वाला है) **"धर्मः धारयति प्रजाः"** (जो प्रजा (जीवों) की रक्षा करे वह धर्म) **"परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम्"** (परोपकार पुण्य है और परपीडा पाप) **"धर्मः सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय"** (धर्म सर्वजीव के हित के लिए एवं सुख के लिए) के अनुसार पवित्र भावना से युक्त सत् विश्वास, सद्विवेक, सदाचार, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, समता, क्षमा, मृदुता, सरलता, शुचिता, संयम, तप, त्याग, ध्यान, आत्मचिंतन, परोपकार, अनुशासन आदि ही यथार्थ से धर्म है। जो कुछ क्रियाकाण्ड, पूजा-पाठ, पर्व-त्यौहार, तीर्थयात्रा, प्रार्थना, जप-आराधना आदि यदि उपर्युक्त धर्म के लिए कारण/सहयोगी/निमित्त/ साधन बनते हैं तो वे सब साधक है नहीं तो बाधक या बाह्याडम्बर, दिखावा तथा निरर्थक है। क्योंकि उपर्युक्त सत्विश्वासादि धर्म से युक्त व्यक्ति को कर्तावादी के अनुसार ईश्वर प्रसन्न होकर उसे सुख/मोक्ष देते हैं तो अकर्तावादी के अनुसार उसके कर्म (संस्कार/प्रकृति) नष्ट होते है जिससे उसे सुख/मोक्ष मिलता है, जो धर्म नहीं मानते हैं उनके अनुसार भी उपर्युक्त सत्विश्वासादि ही सुख के लिए कारण है।

19 जीवन्त महापुरुष क्यों होते हैं - तिरस्कृत ?

सूर्य की रश्मि में भी प्रकाशमान सूर्य को खुले आँखो से भी उल्लू नहीं देख पाता है तो इस में सूर्य कोई अन्धकारमय या अभावरूप नहीं हो जाता है, लाल चश्मा से देखने वालों को सफेद वस्तु भी लाल दिखाई देती है तो वस्तु कोई लाल नहीं हो जाती है, दूर की बडी भी वस्तु छोटी दीखाई देती है तो वह वस्तु कोई छोटी नहीं हो जाती है, सूक्ष्मदर्शक से छोटी वस्तु बडी दिखाई देती है तो वह वस्तु कोई बडी नहीं हो जाती है। ऊँट को गन्ना अच्छा नहीं लगता है परंतु बबुल अच्छा लगता है, सुअर को स्वच्छता अच्छी नहीं लगती है किन्तु गन्दगी अच्छी लगती है ऐसा ही सोच, व्यवहार सामान्य व्यक्ति, तुच्छ व्यक्ति, दुर्जन व्यक्ति जीवन्त महापुरुषों के प्रति करते हैं। इस में विभिन्न कारणों में से मुख्य-मुख्य कारण निम्न हैं-

1) महान् बनाम क्षुद्र उद्देश्य

महान् व्यक्ति का उद्देश्य महान् होता है तो सामान्य, क्षुद्र व्यक्ति का उद्देश्य उससे विपरीत क्षुद्र होता है। प्रकारान्तर से कहे तो महान् उद्देश्य के कारण व्यक्ति महान् बनता है और क्षुद्र उद्देश्य के कारण क्षुद्र। जैसा कि छोटा व्यास के कारण वृत्त छोटा होता है तो बडा व्यास के कारण वृत्त बडा। या प्रकारान्तर से कहे तो छोटा वृत्त का व्यास छोटा तथा बडा वृत्त का व्यास बडा होता है। उद्देश्य वह व्यास है जो कि व्यक्तित्व रूपी वृत्त का नियामक/मापक है। छोटा उद्देश्य रूपी व्यास से विनिर्मित छोटा व्यक्तित्व रूपी वृत्त महान् उद्देश्य रूपी व्यास से विनिर्मित महान् व्यक्तित्व रूपी वृत्त को कैसे पूर्णतः स्पर्श कर सकता है/आत्मसात कर सकता है/व्याप्त कर सकता है। अतः स्वाभाविक है कि महान् व्यक्ति अपनी महानता तथा क्षुद्र व्यक्ति की क्षुद्रता के कारण बहिस्कृत/ तिरस्कृत होते हैं।

2) अनुभवात्मक व्यापक सुज्ञान बनाम क्षुद्र बुद्धि

महान् व्यक्ति का ज्ञान सूर्य के प्रकाश के समान है तो अन्य की बुद्धि जूगनू के प्रकाश के समान होती है। सूर्य का प्रकाश जितना व्यापक क्षेत्र में जितना स्पष्ट रूप में प्रकाशित कर सकता है वैसा तो जूगनू का प्रकाश नहीं कर सकता है। वैसा ही महान् व्यक्ति जो जानते हैं उसे अन्य व्यक्ति नहीं जान सकते हैं, जिससे उसे मानते नहीं है। महान् व्यक्ति तथा उसके ज्ञान/विचार/उपदेश ग्रंथ आदि को सामान्य व्यक्ति जो समझ नहीं पाते हैं उस में महान् व्यक्ति की व्यापकता तथा अन्य की संकीर्णता कारण है। ग्रीष्म ऋतु के मध्यान्ह तेजस्वी सूर्य के समान महान् व्यक्ति को सामान्य व्यक्ति रूपी नयन नहीं देख पाता है। प्रकाश रूपी महान्

पुरुष को अन्धकार रूपी क्षुद्र व्यक्ति स्वीकार नहीं कर पाता हैं। "तू कहता है कागद लिखि मैं कहता हूँ आँखन देखी" (कबीर) के अनुसार सामान्य व्यक्ति की बुद्धि सुन-सुनैया, पुस्तकीय, परकीय, छोटी तथा खोटी होती है तो महान् व्यक्ति की प्रज्ञा अनुभवजन्य, आत्मोत्थ, श्रेष्ठ-ज्येष्ठ होती है। यथा -

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्र तस्य करोति किम्।
लोचनसभ्यां विहिनस्य दर्पणं किं करिस्यति।।

3) सादा-सीधा जीवन बनाम आडम्बर पूर्ण जटील जीवन

सीधी रेखा सरल होती है और बिना वक्र/घुमाव/दिशा परिवर्तन किये अनंत दूरी पार कर ले ती है। दो समानन्तर सरल रेखा परस्पर को बिना बाधा/उल्लंघन/काटे बगैर अनन्त दिशा में वृद्धि कर लेती है परंतु वक्र रेखा कुटिल होती है तथा दिशा परिवर्तन करते-करते दूरी को पार करती है। दो वक्र रेखा परस्पर को बार-बार बाधा पहुँचाती हैं, उल्लंघन करती है, काटती है। इतना ही नहीं वक्र रेखा सरल रेखा को भी स्व-वक्रता के कारण काटती है। अधिक कुटिल रेखा सरल रेखा को अधिक बार काटती है। स्वयं कुटिल रेखा भी इससे सरल रेखा से भी अधिक बार कटती है। इस अवस्था में भी सरल रेखा स्व-स्वभाव को छोडती नहीं है। सरल रेखा को जितनी लम्बाई (क्षेत्र, स्पेस) पार करने के लिए जितनी दूरी पार करना पडता है उतनी लम्बाई पार करने के लिए वक्र रेखा को अधिक दूरी पार करनी पडती है। इन सब कारणों से जितना समय एवं पुरुषार्थ से वक्र रेखा जितनी दूरी पार करती है उतना समय एवं पुरुषार्थ से सरल रेखा अधिक दूरी पार कर लेती है। इतना ही नहीं दूरी के अनुपात से सरल रेखा की लम्बाई वक्र रेखा से कम होती है। अर्थात् जितनी दूरी पार करने के लिए सरल रेखा को जितना गमन करना पडता है उतनी दूरी पार करने के लिए वक्र रेखा को अधिक गमन करना पडता है। उपर्युक्त सरल रेखा के समस्त गुण-धर्म, गति-दिशा, परिस्थिति सादा-सीधा जीवन जीनेवाले महापुरुषों के होते हैं तो वक्र रेखा के समान आडम्बर पूर्ण, जटील जीवन जीने वाले क्षुद्र व्यक्तियों के होते हैं। इसलिए महान् व्यक्ति को क्षुद्र व्यक्ति बाधा पहुँचाते हैं, उल्लंघन करते हैं, हत्या तक कर देते हैं। यथा -

मनस्यैक वचस्यैक कर्मण्यैक महात्मानाम्।
मनस्यान्य वचस्यान्य कर्मण्यान्य दूरात्मानाम्।।

4) निस्वार्थ उदार व्यवहार बनाम स्वार्थपूर्ण संकीर्ण व्यवहार

अयं निजः परो वेत्ति गणना लघुचेतसाम्।
उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुकम्बकम्।।

बादल पक्षपात रहित होकर निस्वार्थ रूप से योग्य क्षेत्र में पानी की वर्षा करता है परंतु पानी का नल ऐसा नहीं करता है। बादल, सूर्य, आकाश, वृक्ष, वायु, दानी, दरवाजा-खिडकी से युक्त घर आदि के समान महान् व्यक्ति निस्वार्थ उदार व्यवहार वाले होते हैं तो क्षुद्र व्यक्ति पानी के नल, छोटे गड्ढे के पानी, व्यापारी, पानी का उपयोग नहीं होने वाला कुआँ, बन्द दरवाजा खिडकी से सहित घर के समान होता है। बादल के समान जैसे सूर्य अपने योग्य क्षेत्र में सब को प्रकाश तापादि देता है वैसा ही महापुरुष अपनी योग्यता/मर्यादा के अनुसार सब के हित चिन्तन, हितोपदेश, उपकार करते हैं परंतु क्षुद्र व्यक्ति पानी के नल के समान जिन से संकीर्ण सम्बन्ध होता है उनसे ही लेन देन करते हैं। महान् व्यक्ति के उद्देश्य, ज्ञान, व्यवहार विराट होते हैं परंतु छोटे गड्ढे, डिब्बे के समान क्षुद्र व्यक्तिओं के उद्देश्य, ज्ञान, व्यवहार होते हैं। दानी, वृक्ष, वायु के समान महान् व्यक्ति निस्वार्थ भाव से/निष्काम भाव से/ समता भाव से/भेदभाव/तेरा-मेरा भाव से रहित होकर प्रवृत्त करते हैं तो छोटे गड्ढे के पानी, व्यापारी, प्रयोग रहित कुँआ के समान छोटे व्यक्ति प्रवृत्त करते हैं। दरवाजा, खिडकी युक्त घर के समान महान् व्यक्ति अच्छे विचार-व्यवहार दूसरों से ग्रहण करते हैं जिससे वे प्रकाशवान, ताजे, उर्जावान, हितकारी होते हैं। परंतु बंद दरवाजा-खिडकी से सहित घर के समान क्षुद्र व्यक्ति दूसरों से अच्छे विचार-व्यवहारादि ग्रहण नहीं करते हैं जिससे अंधकारमय, घुटन से युक्त, गंदे, उर्जा रहित, अहितकारी, स्वदुर्गुणों को दूर करने में अयोग्य होते हैं। उपर्युक्त महान् व्यक्ति के सुगुण एवं क्षुद्र व्यक्तियों के दुर्गुणों के साथ-साथ महान् व्यक्ति के पूर्व सुसंस्कार, पूर्व कर्म, सुसंगति, सात्विक आहार, वातावरण, साहित्य, सज्जनों का सहयोग, नम्रता, अनुशासन, समयानुबद्धता, आत्मविश्लेषण, स्वदोष स्वीकार तथा परिममार्जन, एकाग्रता, समग्र उदारवादी, सत्यग्रही सोंच, धैर्य-क्षमा, पर-दुःख-कातरता ''आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'' प्रयोगधर्मिता, हित-मित-प्रिय वचन आदि होते हैं तो क्षुद्र व्यक्ति में उपर्युक्त सुगुणों से विपरीत दुर्गुण यथा- पूर्व कुसंस्कार, कुसंगति, तामसिक आहार आदि आदि होते हैं।

''मुनिनां भवति अलौकिक वृत्तिः'' के अनुसार महान् व्यक्ति की प्रकृति, प्रवृत्ति अलौकिक/जनसाधारण से भिन्न होती है तो ''लोकानुगतिक लोकः न लोकः परमार्थिकः'' के अनुसार सामान्य व्यक्ति की प्रकृति, प्रवृत्ति सत्य-तथ्य से रहित अंधानुकरणीय, लौकिक होती है। लौकिक प्रवृत्ति संसार के दुःखवर्धक है तो महापुरुषों की अलौकिक प्रवृत्ति संसार के दुःखनाशक है। दोनों की गति परस्पर

विरोधी होने से (भले महापुरुषों की गति सीधी हैं तथापि क्षुद्रजनों की गति उनसे विपरीत होने से) क्षुद्रों का महापुरुषों से टकराव प्रायः अवश्यंभावी है। इसलिए तो तीर्थंकर पार्श्वनाथ, भगवान् महरवीर, जैन साधु-संत, सुकरात, पाइथागोरस, ईसामसीह, भक्त मीराबाई, अब्राहिम लिंकन आदि को क्षुद्रों व्यक्तियों ने कष्ट दिया, हत्या भी की। इसलिए तो जीवंत महापुरुषों के अनुयायी, माननेवाले, लाभान्वित होने वाले अति जघन्य होते हैं। इतना ही नहीं उनमें से भी कुछ विरोधी होते हैं।

5) सुगुणी की भी होती है निंदा, अगुणी की भी होती है प्रशंसा

पाओदयेण सुट्ठ वि चेट्ठंतो को वि पाउणदि दोसं।
पुण्णोदएण दुट्ठु वि चेट्ठंतो को वि लहदि गुणं।। ***1727***

'पावोदएण' अयशस्कीर्तेरुदयेन। 'सुट्ठ वि चेट्ठंतो' सम्यक् चेष्टामानः। 'को वि पाउणदि दोसं' कश्चित्प्राप्नोति दोषं। 'पुण्णोदयेण' पुण्यकर्म उदयेन। 'दुट्ठु वि चेट्ठंतो' यत्किंचिदकार्यं कुर्वन्नपि। 'को वि लभदि गुणं' कश्चिलभते गुणम्।

पाप अर्थात् अयशकीर्ति नामक कर्म के उदय से सम्यक् चेष्टा करने वाला भी दोष का भागी होता है और पुण्य कर्म के उदय से न करने योग्य भी काम करने वाला प्रशंसा का पात्र होता है।

पुण्णोदएण कस्सइ गुणे असंते वि होइ जसकित्ती।
पाओदएण कस्सइ सगुणस्स वि होइ जसघादो।। ***1728***

'पुण्णोदएण' पुण्यस्योदयेन। 'कस्सवि होइजसकित्ती' कस्याचिद्भवति यशस्कीर्तिश्च। 'पावोदएण' पापस्योदयेन। 'कस्सइ सुगुणस्स वि' कस्यचित् सुगुणवतोःपि। 'जसघादो होदि' यशोघातो भवति।

पुण्य के उदय से किसी में गुण न होते हुए भी उसका यश फैलता है और पाप के उदय से गुणवान का भी अपयश होता है।

उपर्युक्त आगमोक्त प्रकरण से सिद्ध होता है कि यशकीर्ति नाम कर्म के उदय से अगुणी व्यक्ति की भी प्रशंसा/कीर्ति होती है। जिसके यशकीर्ति नामकर्म का उदय नहीं है वह गुणवान होते हुए भी कीर्ति प्रसिद्धी नहीं होती है। ''णाणामिणोतितिणाम'' अर्थात् जो विभिन्न रूप बनायें उसे नामकर्म कहते हैं। नामकर्म की विचित्रता के कारण किसी को सुंदर शरीर, स्वरादि मिलते हैं जिससे उनकी प्रशंसा भी होती है। जैसे- मयूर में चित्र-विचित्र वर्ण नामकर्म के उदय से उसके पंख सुंदर होते हैं तथापि वह मयूर असुंदर रूपधारी संत से श्रेष्ठ नहीं हो जाता है। इसी प्रकार अभिनेता-अभिनेत्री (हीरो-हीरोइन, मॉडल्स) आदि की प्रसिद्धि एक ज्ञानी-गुणी साधु-संत से अधिक

पायी जाती है तथापि हीरो-हीरोइन महान् गुणी नहीं हो जाते हैं। अन्य एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि संसार के अधिकांश मनुष्य भोगी-रागी, आसक्त, छोटे-खोटे विचारों वाले होते हैं इसीलिए वे उसी प्रकार के व्यक्तियों को चाहते हैं। क्योंकि "अज्ञानोपास्तिज्ञानं ज्ञानं ज्ञानी समाश्रयः" अज्ञानी की उपासना से अज्ञान की उपलब्धी होती है, ज्ञानी की उपासना से ज्ञान की उपलब्धी होती है; अथवा प्रकारान्तर से अज्ञान की प्रशंसा से अज्ञान व ज्ञान की प्रशंसा से ज्ञान की प्राप्ति होती है। संसार में ज्ञानी, गुणी, समताधारी, सत्यनिष्ठ, सरल-सहज गुण के धारी व्यक्ति कम होते हैं। अधिकांश व्यक्ति क्षुद्र विचारों वाले होते हैं। वे ऐसे महापुरुषों को जानने की क्षमता ही नहीं रखते हैं। जिससे वे महापुरुषों को समझ ही नहीं पाते हैं। द्वितीयतः महापुरुषों की महानता से क्षुद्र व्यक्ति घृणा-ईर्ष्या करते हैं। जिससे वे उनका आदर सत्कार भी नहीं करते हैं।

"संपूर्ण कुभं न करोति शब्दं अर्ध घटं नुनुं करोति शब्दं" ठोल में पोल होने से आवाज अधिक निकलती है "गुण विहीनं बहुजल्पयंति" के अनुसार दूध, घी, फल, सब्जी, अनाज आदि जीवन में महत्वपूर्ण बहुपयोगी वस्तु के विज्ञापन से साबुन, शैम्पु, नेलपालीस, लिपिस्टिक, प्रसाधन सामग्री आदि तुच्छ वस्तुओं का विज्ञापन अधिक होता हैं। ठीक ही है "बडा बडाई ना करे बडे न बोले बोल" के अनुसार फेरीवालों के समान कोई रत्नादि बहुमूल्य वस्तुओं के व्यापारी घूम-घूम कर चिल्ला-चिल्लाकर गली-गली में क्रय-विक्रय नहीं करता हैं।

6) जीवितों का तिरस्कार मृतों का सत्कार

"प्रत्यक्ष मार्यते गावः गोमेयश्वपि पुज्यते" "जिंदा बाप से लट्ठं-लाट्ठा मरे हुए को पहुँचाए गंगा" "घर का योगी योगीन्त्रा अनदेस का सिद्ध" "घर कि मुर्गी दाल बराबर" के अनुसार महान् व्यक्तियों से व्यक्ति क्षुद्र व्यक्ति उपर्युक्त कारणों से ईर्ष्या-द्वेष, घृणा, हत्यादि करते हैं परंतु उनकी मृत्यु के बाद उनकी प्रशंसा-पूजादि करते हैं। इसमें विभिन्न कारणों में से कुछ कारण अग्रलिखित हैं- 1) अभाव/कमी से उनका मूल्य बढ जाता हैं क्योंकि उनसे जो लाभ होता है उस लाभ से वंचित होजाने से। 2) जीवित अवस्था में उनकी महानता, प्रसिद्धि आदि के कारण जो ईर्ष्या-द्वेष, घृणा होती है उनकी मृत्यु के बाद "कारण के आभाव से कार्याभाव" नियम के अनुसार महापुरुषों के अभाव से उनसे सम्बन्धित ईर्ष्यादि भाव नहीं होने से उनके गुणस्मरण, उपकारस्मरण होने से। 3) अविद्यमान महापुरुषों के पूजा, मूर्तिस्थापना, मंदिर निर्माण, संस्था निर्माण, पंथ-मत निर्माण, प्रचार-प्रसार से तथा उनके अनुयायी बनने से स्वयं को आर्थिक, सामाजिक मान, प्रतिष्ठा, समर्थन आदि

का लाभ होने से। 4) महापुरुषों के गुण-कार्य, सिद्धांत-उपदेश, आदर्श-आविष्कार, खोजादि जब स्व उपयोगी, बहुपयोगी, लाभकारी होते हैं तब। 5) जब उनके अनुयायी, समर्थक, प्रशंसक कोई प्रभाव शाली व्यक्ति आदि बनते हैं या अधिक लोग अनुयायी आदि बनते हैं। 6) मृत्यु के बाद उनसे कोई दोष, डर, क्षति आदि की संभावना नहीं होने से उनकी पूजा-प्रशंसादि साधारण लोग करते हैं। "श्रेयसां बहु विघ्नानी भवत्यपि महत्यपि" "क्षमा बडन को चाहिए छोटन को उत्पात" "अति परिचये होत हु अनीति अनादर भाई, मलयागिरि की भिलनी चंदन देते जलाय" "Old is GolD" आदि उक्तियाँ भी प्रस्तुत संदर्भ का बहुत कुछ बखान करती हैं।

उपर्युक्त कारणों से महापुरुषों की मृत्यु के बाद उनके अनुयायी अधिक बनते हैं, उनकी पूजा, प्रशंसा, मूर्ति-संस्थादि की स्थापना अधिक होती हैं। परंतु इन सबसे भी जीवन्त महापुरुषों से जो जीवन्त ज्ञान, शिक्षा, आदर्श प्राप्त होना चाहिए वहसब नहीं हो पाता है। अतएव उनके अनुयायी, प्रशंसक में भी अनेक विकृतियाँ आ जाती हैं जिस विकृतियों को उन -उन महापुरुषों ने नकारा था। इन सब कारणों से अनेक पंथ, मत, गुट आदि की सृष्टि होती हैं जो और भी अनेक समस्याओं को जन्म देती हैं। अतः महापुरुष स्वयं महान् तो होते हैं परंतु प्रायः सामान्य व्यक्ति उनकी महानता से कम लाभान्वित होते हैं। अतएव जीवन्त महापुरुषों से लाभान्वित होने के लिए दूसरों को उनके योग्य बनना चाहिए।

7) महापुरुषों की प्रशंसादि के लाभ

गुणग्राही महान् व्यक्ति स्व-गुणों की प्रशंसा से फुलकर कुप्पा नहीं होते हैं तथा निंदा से म्लान नहीं होते हैं परंतु जिस गुणों की प्रशंसा सज्जन करते हैं उस गुणों की और भी वृद्धि करते हैं और जिस दुर्गुणों की निंदा सज्जन करते हैं उस दुर्गुणों को दूर करते हैं। गुणी की प्रशंसा करने वालो के भाव कोमल-मधुर-उदार-गुणग्राहि होता है जिससे उसे पुण्यबंध हांता है, तथा पुण्य से उसका सर्वांगीण विकास होता है।

गिरिणदियदिपदेसा तित्थाणि तवोधणेहि जदि उसिदा।
तित्थं कथं ण हुज्जो तवगुणरासी सयं खवउ।। *2201*

यदि तपस्वियों के द्वारा सेवित पहाड, नदी आदि प्रदेश तीर्थ होते हैं तो तपस्यारूप गुणों की राशि क्षपक (साधु) स्वयं तीर्थ क्यो नहीं हैं।

पुव्वरिसीणं पडिमाओ वंदमाणस्स होइ जदि पुण्णं।
खवयस्स वंदओ किह पुण्णं विउलं ण पाविज्ज।। *2002*

यदि प्राचीन ऋषीयों की प्रतिमाओं की वंदना करने वाले को पुण्य होता है

तो क्षपक की वंदना करने वालों को विपुल पुण्य क्यों नहीं प्राप्त होगा।

ऐसे मूनि की पूजा, आराधना, सेवा ही यथार्थ से धर्म, मूर्ति, तीर्थ, जीणवानी आदि की पूजा है क्योंकि प्रकारान्तर से ऐसे मुनि से ही अन्तः संबंध धर्म आदि से होता है। भगवती आराधना में कहा गया है कि जो क्षपक साधु की सेवा करता है, दर्शन करता है वह धन्य है। एक प्रसिद्ध श्लोक निम्नवत् है :-

साधुनां दर्शनं पुण्य तीर्थभूता हि साधवः।
कालेन फलंति तीर्थः सद्यः साधु समागमः।।

साधु का दर्शन ही पुण्य है क्योंकि साधु तीर्थ स्वरूप होते हैं। तीर्थ यात्रा, तीर्थपूजा का फल तो कालान्तर से मिलता है, परन्तु साधु समागम का फल तात्कालिक मिलता है।

गंगा पापं शशी तापं दैन्यं कल्प तरुस्तथा।
पापं तापं तथा दैन्यं सर्व सज्जन संगमः।।

इस श्लोक में लौकिक उदाहरण देकर साधु संगति के माहात्म्य का वर्णन किया गया है। गंगा से पाप का नाश होता है, चन्द्र से ताप का नाश होता है, कल्पतरु से दैन्यता नाश होती है, परंतु साधु-संगति से पाप, ताप एवं दरिद्रता एक साथ नाश हो जाती है।

समन्तभद्र स्वामी ने भी साधु सेवा के महत्व का वर्णन निम्न प्रकार से किया है-

दानं वैयावृत्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये।
अनपेक्षितोपचारोक्रियमगृहाय विभवेन।। *21* र.श्रा.

तप ही जिनका धन है तथा सम्यग्दर्शनादि गुणों के जो निधि आश्रय हैं ऐसे भाव आगार और द्रव्य आगार से रहित मुनीश्वर के लिए उपचार प्रतिदान तथा उपक्रिया प्रत्युपकार की भावना से रहित अपनी विधि, द्रव्य आदि संपदा के अनुसार जो आहार आदि का दान दिया जाता है वह वैयावृत्य कहलाता है।

व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात्।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योपि संयमिनाम्।। *22*

देशव्रती और सकलव्रती के भेद से संयमी दो प्रकार के हैं। इनके ऊपर यदि बीमारी आदि नाना प्रकार की आपत्तियाँ आयी हैं तो उन्हें गुणाणुराग से प्रेरित होकर दूर करना, उनके पैर आदि अंगों का मर्दन करना तथा इसके सिवाय और भी जितनी समयानुकुल सेवा है वह सब वैयावृत्य नामक शिक्षाव्रत है। यह वैयावृत्य व्यवहार अथवा किसी दृष्टफल की अपेक्षा से न होकर मात्र गुणाणुराग अर्थात् भक्ति के वश से की जाती है।

नवपुण्यैः प्रतिप्रत्तिः सप्तगुणसमाहितेन शद्धेन।
अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम् ।। *23*

सात गुणों से सहित और लौकिक, आचारिक तथा शारीरिक शुद्धि से सहित दाता के द्वारा गृहसम्बन्धी कार्य तथा खेती आदि के आरम्भ से रहित सम्यग्दर्शनादिगुणों से सहित मुनियों का नवधाभक्ति पूर्वक जो आहारादि के द्वारा गौरव किया जाता है वह दान माना जाता है।

गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तनाम्।
अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि। । *24*

जिन्होंने अन्तरंग और बहिरंग से घर का त्याग कर दिया है तथा सब तिथियां जिन्हें एक समान हैं, किसी खास तिथि से राग द्वेष नहीं है ऐसे मुनियों के लिए जो दान दिया जाता है वह सावद्य व्यापार – सपाप कार्यो से संचित बहुत भारी कर्म को उसी तरह नष्ट कर देता है जिस तरह कि जल, मलिन रुधिर को धो कर नष्ट कर देता है।

उच्चैगोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा ।
भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु।। *25*

तपस्वियों को प्रणाम करने से उच्चगोत्र, दानादिक देने से भोग, पडगाहने से पूजा प्रभावना, भक्ति से अर्थात् गुणाणुराग से उत्पन्न श्रद्धाविशेष से रुप तथा "आप ज्ञान के सागर है" इत्यादि स्तुति करने से कीर्ति प्राप्त होती है।

क्षितिगतमिववटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले।
फलतिच्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम्। *26*

उचित समय में योग्य पात्र के लिए दिया हुआ थोडा भी दान उत्तम पृथ्वी में पडे हुये वटवृक्ष के बीज के समान प्राणियों के लिए महात्य और वैभव से युक्त पक्ष में छाया की प्रचुरता से सहित बहुत भारी अभिलाषित फल से फलता है, देता है।

आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन।
वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्रः।। *27*

भक्त, पान आदि को आहार कहते हैं, बीमारी को दूर करनेवाले पदार्थ को औषध कहते हैं, ज्ञानोपकरण आदि को उपकरण कहते हैं और वसतिका आदि को आवास कहते हैं। इन चारों वस्तुओं को देने से वैयावृत्य चार प्रकार का होता है ऐसा पण्डितजन निरुपण करते हैं।

20 आत्मा है न मोक्ष सुख : सबसे बडा है सांसारिक सुख !

श्रुत-परिचित-अनुभुत : समस्त काम-भोग बंध कथा (सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंध कहा)

आस्तिक हो या नास्तिक, कर्तावादी हो या अकर्तावादी, धार्मिक हो या अधार्मिक, देशी हो या विदेशी, कीट-पतंग-पशु-पक्षी हो या स्वर्ग के देवता, गृहस्थ हो या साधु चार्वाक दर्शन/सांसारिक सुख, भोग को प्रायोगिक जीवन में जीते हैं। भले वे किसी भी परंपरा, दिखावा, रीति-रिवाज, पूजा-पाठ, संत-ग्रंथ, पंथ-मत, महापुरुष-धर्म संस्थापक, धर्म प्रचारक, मूर्तिपूजक आदि के अनुयायी क्यों न हो। क्योंकि जीव का स्वभाव अनंत सुख स्वरूप होने से प्रत्येक जीव सुख चाहता है और दुःख से भयभीत होता है। सुख की उपलब्धि के लिए अनेक उपयों का शोध-बोध-अविष्कार-प्रायोगिकरण अनादि अनंत काल से लेकर आधुनिक काल तक हो रहा है। अतएव "यतोऽभ्युदयानिःश्रेयससिद्धिस्सः धर्मः" अर्थात् - "जिससे यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होकर लौकिक/सांसारिक सुख एवं समस्त दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति स्वरूप स्वात्मोपलब्धि रूप मोक्ष की प्राप्ति हो सके उसे धर्म कहते हैं" रूपी महान् सूत्र/सिद्धान्त/प्रणाली का निर्माण हुआ। परंतु यथार्थ विश्वास, विवेक, आचरण के बिना जीव अनादि काल से सांसारिक सुख स्वरूप इंद्रिय जनित काम-भोग, विषय-वासना रूप देह सुख को ही मान रहा हैं, जान रहा हैं, भोग रहा है और उसके लिए सतत प्रयत्नशील है।

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंध कहा।
एयत्तसुवलंभो णवरि ण सुलह विहतस्स।। 4 समयसार

अनादि काल से जीव ने समस्त काम-भोग-बन्ध कथा को सुना, परिचित हुआ, अनुभव किया, अतएव यह सब काम - भोगादि सुलभ है, उस के प्रति अत्याधिक आकर्षण/लोलुपता/तृष्णा है। इस कार्य में संसार के प्रत्येक जीव न केवल शिष्य/प्रशिक्षु/प्रशिक्षणाधीन है परंतु दक्ष/कुशल/मास्टर/आचार्य है। अर्थात् स्वयं आचरण करता है और दूसरों को भी आचरित/प्रेरित/प्रशिक्षित करता है, इसीलिए तो निम्न श्रेणीय एककोशीय जीव से लेकर वनस्पति, कीट-पतंग, पशु-पक्षी, मनुष्य, स्वर्ग के देव तक स्वेच्छा से स्व-प्रवृत्ति से सांसारिक सुखके लिए प्रवृत्त होते हैं।

एकेन्द्रिय जीव से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक अनन्तानन्त जीव केवल सांसारिक सुख ही को जानते हैं, मानते हैं, भोगते हैं। क्योंकि इनके मन नहीं होने

के कारण वे सम्यग्दृष्टि नहीं बन सकते हैं जिसके कारण वे सम्यग्ज्ञानी तथा सम्यक् आचरण वाले नहीं बन सकते हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव यथा - पशु-पक्षी, मनुष्य, नारकी, देव में तो मन होता है परंतु वस्तुस्वरूप का यथार्थ विश्वास/श्रद्धान जिस को नहीं होता है वे भी उपर्युक्त जीव के समान ही सांसारिक सुख भोगी होते हैं। उनमें जो सम्यग्दृष्टि होते हैं वे श्रद्धा रूप से तो आत्मसुख को मानते हैं परंतु आचरण रूप से वे भी सांसारिक सुख को भोगते हैं। जो सम्यग्दृष्टिके साथ-साथ अणुव्रती/सागार/पंचमगुणस्थानवर्ती होते हैं वे भी श्रद्धा के साथ-साथ कुछ अंश में सांसारिक सुख को त्याग करते हैं तो कुछ अंश में सांसारिक सुख को भोगते हैं।

अनाद्यविद्यादोषोत्थचतुः संज्ञाज्वरातुराः ।
शश्वत्स्वज्ञानविमुखाः सागारा विषयोन्मुखा।। 2

अनादिकालीन अविद्यारूपी दोषों से उत्पन्न होने वाली, चारों संज्ञा रूपी ज्वरसे पीडित, निरंतर आत्म ज्ञान से विमुख, विषयों के सन्मुख गृहस्थ होते हैं।

जिस प्रकार वात, पित्त और कफ की विषमता से साध्यप्राकृत, असाध्यप्राकृत, साध्यवैकृत, असाध्यवैकृत के भेद से चार प्रकार के ज्वर उत्पन्न होते हैं। उन ज्वरों से पीडित होने के कारण मनुष्य हिताहित के विवेक से शून्य हो जाते हैं और अपथ्यसेवी बन जाते हैं, उसी प्रकार अनित्य पदार्थों में नित्य, अपवित्र पदार्थों में पवित्र, दुःख को सुख, हेय पदार्थों को उपादेय, अपने से पृथक् स्त्री, पुत्र, मित्रादिक बाह्य पदार्थों को अपना मानना यही एक अनादिकालीन अविद्या है। इस अविद्यारूप वात, पित्त, कफ की विषमता से उत्पन्न होनेवाली आहार संज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रह संज्ञारूपी ज्वर से पीडित होकर यह प्राणी हिताहित के विवेक से शून्य होकर अपथ्यसेवी बन रहा है अतः अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं रहा।

अनाद्यविद्यानुस्यूतां ग्रंथसंज्ञामपासितुम् ।
अपारयन्तः सागराः प्रायो विषयमूर्च्छिताः।। 3 सा.धर्मा.

अनादिकालीन अज्ञान के कारण परम्परा से आने वाली परिग्रहसंज्ञा को छोडने के लिए असमर्थ प्रायः करके गृहस्थ होते हैं।

जिस प्रकार बीज से अंकुर और अंकुर से बीज यह परम्परा अनादि काल से चली आरही है, उसी प्रकार अनादिकालीन अज्ञानभाव से परिग्रहादि संज्ञा से अज्ञानभाव (अर्थात् द्रव्यकर्म से भावकर्म और भावकर्म से द्रव्यकर्म) इस प्रकार अनादि (जिसका प्रारंभ नहीं है) अविद्या से उत्पन्न हुई ग्रंथ संज्ञा अर्थात् परिग्रह में यह मेरा है इस प्रकार के परिणामों को छोडने में असमर्थ होकर प्रायः गृहस्थ स्त्री पुत्रादिक में मैं इनका भोक्ता हूँ, मैं इनका स्वामी हूँ, यह मेरी योग्य वस्तु है इस

प्रकारके ममकार, अहंकाररूप विकल्प जाल की परतंत्र से वशीभूत होकर विषयों में मूर्च्छित हो जाता है। इस श्लोक में प्रायः यह शब्द दिया है इससे यह सूचित होता है कि प्रायः सम्यग्दृष्टि भी चारित्रमोहनीय के वशीभूत होकर विषयों में मूर्च्छित हो जाते हैं, परंतु कोई विरले सम्यग्दृष्टि जन्मान्तर में किए हुए रत्नत्रय के अभ्यास से भरत चक्रवर्ती आदि के समान चक्रवर्ती, इंद्रपद आदि का अनुभव करते हुए भी "असतीनाथोपभोगन्याय" से तत्त्वज्ञान, देशसंयम आदि की तत्परता होने से नहीं भोगने वाले के समान है। इस विशेषता को बताने के लिए प्रायः शब्द दिया गया है। सप्तम प्रतिमा से सांसारिक सुख का त्याग अधिक होता जाता है जिससे आत्मिक सुख उस अंश में अधिक होता जाता है। यह हानि एवं वृद्धि क्रम आगे अंश-अंशी भाव से बढता जाता है। क्षुल्लक, ऐलक, आर्यिका/साध्वी तक पंचमगुणस्थान/आध्यात्मिक सोपान की उत्कृष्ट स्थिति है। इस गुणस्थान की इस अवस्था में स्थूल सांसारिक विषय-भोग स्वरूप सुख भोग तो नहीं होता है परन्तु प्रत्याख्यान, संज्वलन तथा नो-कषाय के सद्भाव/उदय के कारण सूक्ष्म सांसारिक सुख का भी सद्भाव है। सर्व सांसारिक भौतिक परिग्रह/साधन त्याग रूप षष्ठम गुणस्थानवर्ती साधु/ अनगार को पूर्ववर्ती उत्कृष्ट पंचमगुणस्थान से भी अधिक आध्यात्मिक सुख का अनुभव होता है जिससे उसे सांसारिक सुख का वेदन और भी सूक्ष्म हो जाता है। क्योंकि -

यथा यथा समायाति, संवित्तौ तत्वमुत्तमम् ।
तथा तथा न रोचन्ते, विषया सुलभा अपि।। इष्टो.

जैसे-जैसे विशुद्ध आत्मस्वरूप के अभिमुख योगीजन गमन करते हैं अर्थात् आत्मस्वरूप में लीन होकर उसकी अनुभूति करते हैं वैसे-वैसे सुलभ भी रमणीय इंद्रिय जनित भोग में बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है। महासुख की उपलब्धी होने पर अल्पसुख के कारण का अनादर लोक में भी दिखाई देता है।

यथा यथा न रोचन्ते, विषया सुलभा अपि।
तथा तथा समायाति, संवित्तौ तत्वमुत्तमम्।। इष्टो.

विषय विरक्ति ही योगी की स्व-आत्म-संवित्ति की सूचना देने वाली है, उसके अभाव से अर्थात् विषय विरक्ति के अभाव से आत्म संवित्ति भी नहीं हो सकती है। विषय विरक्ति से आत्म-संवित्ति भी वृद्धि को प्राप्त हो जाती है।

निशामयति निश्शेषमिन्द्रजालोपमं जगत् ।
स्पृहयत्यात्मलाभाय, गत्वान्यत्रानुतप्यते।। इष्टो.

जो आत्म-संवित्ति का रसिक/ध्याता है वह संपूर्ण चराचर बाह्य वस्तु को

उपेक्षा रूप से देखता है। उसे हेय, उपादेय, ग्रहणीय, एवं त्यजनीय का ज्ञान होने के कारण इन्द्रजालियाँ (जादूगर) के द्वारा प्रदर्शित सर्प व हार के समान समस्त सांसारिक वस्तु प्रतिभाषित होती है इसलिए वह संसार को इंद्रजाल के समान अवास्तविक मानकर चिदानन्द स्वरूप स्व-आत्म संवित्ति को चाहता है तथापि स्व-आत्मा से अतिरिक्त किसी वस्तु में स्व-चित्त की प्रवृत्ति पूर्व संस्कार वश हो जाती है, तब वह पश्चाताप करता है। वह दुःखी होकर सोचता है कि हाय ! मेरे से यह अनात्म कार्य कैसे हो गया।

परंतु संज्वलन एवं नोकषाय के यथायोग्य तीव्र, मध्यम, मन्दता के कारण तदनुकूल सांसारिक सुख का सद्भाव है परंतु उसकी मंदता के कारण एवं आध्यात्मिक सुख की तीव्रता के कारण वह सुख अकिंचित्कर हो जाता है। यथा-

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य, व्यवहारबहिः स्थिते।
जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः।।

देहादि से निवृत्त होकर जो स्व-आत्मा में लीन होकर प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप व्यवहार से दूर होकर ध्यान करता है ऐसे योगी के स्व-आत्म ध्यान से एक अनिर्वचनीय परमानंद उत्पन्न होता है जो आनंद अन्य में असंभव है।

परंतु यह वर्णन यथार्थ से जो अन्तरंग में चतुर्थ, पंचम, षष्टम् गुणस्थानवर्ती यथा क्रम से जैनी, श्रावक/सागार, साधु/अनगार है उनके लिए न कि केवल बाह्य से जो जैनी, श्रावक, साधु है उनके लिए है। वे बाह्य आचरण वाले पूर्णतः सांसारिक सुख के भोगी ही होते हैं। क्योंकि मोही/मिथ्यादृष्टि जो कुछ सांसारिक काम या धार्मिक काम करता है वह सब भोग निमित्त है न कि कर्मक्षय निमित्त है (मिच्छादिट्ठि जं कुणइ तं सव्व भोग णिमित्तं ण हु कम्मक्खय णिमित्तं)।

धर्मः शब्द मात्रेण बहुशः प्राणिऽधमा ।
अधर्ममेव सेवन्ते विचार जड चेतसाः।। पद्मपु.

अधिकांशतः विचारहीन अधर्मी प्राणी धर्म शब्द को लेकर अधर्म ही सेवन करते हैं। आदि शंकराचार्य कहते हैं कि -

जटिलो मुण्डी लुंचित केशः कषायाम्बरः बहुकृतवेषः।
पश्यन्नपि न च पश्यति मूढः उदर निमित्तं बहुकृत वेषः।।

जटा बढाने वाले, सिर मुंडन करने वाले, कषायाम्बरादि अनेक धार्मिक वेषों को धारण करने वाले मूढ लोग जो कि आत्मधर्म से रहित होने के कारण आत्मा के सत्य धर्म को नहीं देखते हैं वे मूर्ख केवल उदरपोषण के लिए अनेक प्रकार बाह्य वेश को धारण करते हैं। वे केवल स्वार्थ सिद्धि के लिए, यश, प्रतिष्ठा, मान-सम्मान,

अर्थशोषण के लिए बाह्य वेश बनाकर धर्मोपदेश करते हैं परंतु अन्तरंग में बगुला भक्त होते हैं। जैसे कि बक पक्षी बाह्य में शुक्ल होता है एवं जलाशय में एक पैर पर खडा रहकर ध्यानी के समान ध्यान करता है परंतु जब जलाशय के ऊपर मछली आती है तब मछली को ओम् स्वाहा करता है। इसी प्रकार कुछ पाखंडी साधु बाह्य से धार्मिक वेश-भूषा धारण करते हैं और भोले प्राणियों को अपने चंगुल में फंसाने के लिए अनेक धार्मिक मायाजाल फैलाते हैं और संयोग मिलने पर बक पक्षी के समान धन, जन, जीवन तक का अपहरण कर लेते हैं। किसी नीतिकर ने कहा भी है –

परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम्।
धर्मे स्वयमनुष्ठानं कस्याचित् महात्मनः।।

दूसरों को सदाचार का, धर्म का उपदेश देना सरल है किंतु उस उपदेशानुसार स्वयं आचरण करने वाले जगत् में कोई विरले ही सज्जन हैं। कुछ जिव्हा लालची, स्वार्थी, कामूक व्यक्ति धर्म के ठेकेदार बनकर धर्म के नामपर मद्य-मांस अदि का प्रचार प्रसार करते हैं।

मद्य मांस च मीन मुद्रा मैथुनमैव च।
एते पंच मकारास्युर्मोक्ष दाहि युगे-युगे।। कालीतंत्र

मद्य-मांस-मछली-मुद्रा (पूरी, कचोरी, बडे) और मैथुन ये पांच मकार युग-युग में मोक्ष देने वाले हैं।

पीत्वा-पीत्वा पुनः पीत्वा यावत् पतति भूतले।
उत्थाय च पुनः पीत्वा भूयो जन्म न विद्यते।।

जो सुरा को बार-बार पीता है जिसके कारण वह जमीन में गिर जाता है पुनः खडे होकर पीता है इस प्रकार व्यक्ति संसार में बार-बार जन्म ग्रहण नहीं करता है।

निष्कर्ष रूप से मेरा(आ. कनकनंदी) जो विभिन्न विधा के लाखों व्यक्तियों का दीर्घ अनुभव है उसके आधार पर मैं इस समीकरण पर पहुँचा हूँ कि सामान्य प्राणी से लेकर हर संप्रदाय के अनेक साधु-संत तक पंचेन्द्रियों के भोगोपभोग, चार संज्ञा (आहार, भय, मैथुन, परिग्रह), चार कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ), पांच पाप (हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह) रूपी सांसारिक सुख/आवेश/विवशता/परतंत्रता से प्रभावित होकर ही सोचते हैं, जानते हैं, मानते हैं, बोलते हैं, करते हैं किंतु सत्य, समता, आध्यात्मिकता, मोक्षसुख, व्यापकता, उदारता, सहिष्णुता, पवित्रता, वीतरागता आदि का प्रायः अभाव रहता है।

21 आदर्श साधु के कर्तव्य अकर्तव्य

(वर्तमान के साधु आदर्श बने इस स्थितिकरण अंग से प्रेरित मेरा सनम्र प्रयास) हमें (साधुओं को) कीर्ति का विस्तार करना चाहिए न कि अपकीर्ति का/दोषों का

अनेक वर्षों से अनेक श्रावक, पंडित, सामाजिक कार्यकर्ता, श्रेष्ठि वर्ग, संपादकों से चर्चा (आक्षेप) तथा अनेक संपादकीय के अध्ययन के बाद मैं यह लेख लिखने के लिए विवश तथा प्रेरित हुआ हूँ। इस लेख के लिए मेरे प्रेरक कारक हैं – उपगूहण, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना अंग न कि किसीसे डरना या डराना और दबना या दबवाना अथवा प्रतिशोध की भावना है। परंतु इसमें परिशोधन की भावना अवश्य है। तथैव च "न धर्मैः धार्मिकोबिना" "धर्म निर्मूलः विध्वंस सहन्ते न प्रभावका" के अनुसार मैं 12, 13 वर्ष पहले कर्नाटक, महाराष्ट्र नागपुर से लेकर हस्तिनापुर तथा जयपुर तक सात आठ वर्ष तक एकांतवादियों का घनघोर निरसन, वादविवाद, तत्त्वचर्चा, प्रवचन, लेख, साहित्य लेखन आदि के माध्यम से किया था। उस समय में उपर्युक्त संदर्भ में भी मैं धर्म, आगम, साधु-संत तथा सामाजिक समरसता के लिए निष्पक्ष, निष्कषाय, निस्वार्थ रूप से किया था। अभी भी यह लेख उस भावना से लिख रहा हूँ।

1) सम्यग्दर्शन युक्त अंगो से युक्त साधु –

स्वभाव से पवित्र मोक्ष मार्ग के अज्ञानी तथा असमर्थ जनों के निमित्त से उत्पन्न उत्पन्न हुई निन्दा को दूर करता है, उसको उपगूहन अंग कहते हैं। 15र.श्रा

सम्यग्दर्शन से अथवा सम्यक्चारित्र से भी डिगते हुए जीवों को उन्हें उस विषय में दक्ष एवं धर्म से प्रेम रखने वाले स्त्री-पुरुषों के द्वारा फिर उसी में स्थिर करना स्थितिकरण अंग कहा जाता है ।। 16 रत्न. श्रा.।।

अज्ञानरूपी अंधकार के विस्तार को समुचित उपायों से दूर करके जैन धर्म का महात्म्य प्रकट करना सो प्रभावना अंग है।। 17 रत्न. श्रा.।।

जैनधर्म वस्तुस्वभावात्मक, अनेकान्तात्मक, वैज्ञानिक, परम पवित्र, परम उदार, सार्वभौम धर्म होने पर भी उसे परम्परावादी से वंशानुक्रम से या संकीर्ण-स्वार्थ सिद्धि के लिए अथवा किसी प्रकार के संकीर्ण दूषित भाव से पालन, अनुकरण/ढोने वालों से जो विकृति, शिथिलाचार, अतिचार, अनाचार, अतिक्रम, व्यतिक्रम होते हैं उसको यथार्थ ज्ञान से दूर करना उपगूहन, स्थितिकरण, प्रभावना अंग है।

अनादि कालीन कुसंस्कारों के कारण जीवों की अन्तरंग विशुद्धि सरलता से नहीं आ पाती है तथापि वह जिस सामाजिक परिवेश में जन्म लेता है, पलता

है, बढता है उसके अनुसार उसको देखा देखी रूप से सामाजिक समायोजना के लिए तथा लोकलाज के कारण कुछ धार्मिक, सांस्कृतिक, सभ्यतागत रीति-रिवाजों को पालन करना पडता है। क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज के बिना उसका अस्तित्व, विकास तथा जीवन-यापन सम्भव नहीं है। भाव विशुद्धि के बिना वह धार्मिक एवं सांस्कृतिक कर्तव्यों को सम्यक् रूप से नहीं कर पाता है। तथापि वह अवचेतन संतुष्टी के लिए स्वकमियों को सहीं सिद्ध करता है। इन सब कारणों से ही धर्म में, संस्कृतियों में, परम्पराओं में, रीमिरिवाजों में, गुणों में विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती है। और धर्म ह्रासोन्मुखी बनता जाता है।। 18 रत्न.श्रा.

2. क्षमा स्वरूप साधु

हमें साधुसंत तथा सज्जनों को हमारे विद्यमान दोष कहनेपर उस दोषों को दूर करना चाहिए तथा दोष कथक को उपकारी मानना चहिए तथा अविद्यमान दोष कहने पर समता में रहना चाहिए तथा दोष कथक के ऊपर दया/क्षमा करनी चाहिए। यथा -

यदि दूसरा व्यक्ति मेंरे अविद्यमान दोषों को कहता है तो वह दोष मुझमें नहीं हैं। अतः उसे क्षमा करना चाहिए; क्योकि असत् दोष कहने से मेरी क्या हानि हुई ? अथवा निन्दा करने वाले पर दया करना चाहिए बेचारा झूँठ बोलकर अनेक दुःख देने वाला पाप भार एकत्र करता है। मेरे दोषों से उसमें दोष उत्पन्न नहीं होते और न मेरे गुणों से ही उसका कोई लाभ होता है। प्राणियों के अपने-अपने गुण-दोष नियत है। उनसे होने वाला सुख-दुःख भी उन्हें ही होता है अतः यह व्यर्थ ही कर्मबन्ध करता है।। 1415 भ.आरा.।।

यदि दूसरा मेरे में विद्यमान दोष को कहता है तब भी क्षमा करनी चाहिए क्योंकि वह जिस दोष को कहता है वह मेरे में है। वह झूठ नहीं कहता। विद्यमान दोषों को दूसरे यदि न कहें तो वे नष्ट हो जाते हैं, ऐसी बात भी नहीं है ऐसा विचार करना चाहिए।। 1416 भ.आरा.।।

सावधान :- दिगम्बर जैन साधुओं के दोष के बारे में वही व्यक्ति/जैन/श्रावक /पंडित/साधु बोल सकता है/लिख सकता है। जो स्वयं यथायोग्य निर्दोष है तथा 1) उपगूहन 2) स्थितिकरण 3) वात्सल्य 4) प्रभावनादि अंग से युक्त हो अन्यथा ऐसा करना अनधिकृत/अनैतिक/अवैधानिक है। पापबन्ध के लिए कारण है।

3. कीर्ति विस्तारक साधु

धर्मपालन, कर्तव्यनिर्वहन, साधुत्व, प्रभावना, शिक्षा, दीक्षा, गुरु-उपदेश आदि के माध्यम से आत्मकल्याण के साथ-साथ कीर्ति सम्पादन करनी चाहिए या यथार्थ

से कहें तो कीर्ति/प्रसिद्धि आनुसंगिक रूप से हो ही जाती है। परंतु ऐसा कोई भी कार्य/व्यवहार नहीं करना चाहिए जिससे आत्मग्लानि, संक्लेश, तनाव, लोक-निन्दा, धर्म की हँसी, सद्गुरु की अपकीर्ति आदि हो। यथा -

जिस प्रकार से मैं संसार से पार ऊतरूँ, जिस प्रकार से आपका परम संतोष हो, मेरे कल्याण में संलग्न आपका और संघ का परिश्रम जिस प्रकार से सफल हो।। 1477 भ.आरा.।।

जिस प्रकार मेरी और संघ की कीर्ति फैले, मैं संघ की कृपासे उस प्रकार रत्नत्रय की आराधना करुँगा।। 1478।।

वीर पुरुषों ने जिसका आचरण किया है, कायर पुरुष जिसकी मन में कल्पना भी नहीं कर सकते, मैं ऐसी आराधना करुँगा।। 1479।।

भुजा स्फालन करने वाले कुलीन अभिमानी के लिए युद्ध में सन्मुख मरना श्रेष्ठ है किन्तु सुजनों के मध्य में जीवनपर्यन्त लज्जा उठाना श्रेष्ठ नहीं है।। 1517।।

उसी प्रकार स्वभिमानी संयमी श्रमण का मर जाना श्रेष्ठ है किन्तु लज्जाजनक कार्य करना श्रेष्ठ नहीं है, कातरता-विपत्तियों से घबराना, दीनता कृपणता- कि मैं कुछ भी नहीं कर सकता आदि श्रेष्ठ नहीं है।। 1518।।

तब कुल गण और संघ के यश संम्पादन का अहंकार करने वाले लोकपूजित साधु स्वाभिमान त्यागकर साधुजन के लिए लज्जा के योग्य बुरा कर्म करेंगे क्या ? कभी नहीं करेंगे।। 1529।।

जो छोटी या बडी विपत्ति आने पर खिन्न होता है उस कायर पुरुष को ध ीर पुरुष नपुंसक कहते हैं।। 1530।।

मैं अभी संक्षिप्ततः मूल विषयों के ऊपर प्रकाश डाल रहा हूँ जो कि साधुओं की अपकीर्ति के कारणभूत है जिसे कि मैंने प्रथम पैरा में ही दिग्दर्शन कराया था। वह यह है कि -

4. साधुओं के त्यजनीय दोष

1) साधु होकर साधुता में रहते हुए आत्मकल्याण/स्वनिर्माण करे, परन्तु गृहस्थ योग्य गिरी, क्षेत्र, मन्दिर, धर्मशाला, मूर्ति आदि का निर्माण क्यों करते हैं ? हाँ ! इसके लिए आगमोक्त केवल उपदेश कर सकते हैं।

2) साधु पंथवाद, परम्परावाद, पूजा-पाठ, मतवाद, वाद-विवाद, क्षेत्रवाद, तेरा-मेरा, धनी-गरीब आदि भेद भाव तोड-फोड, सामाजिक विघटन आदि क्यों करते हैं ? हाँ ! इसके समाधान के लिए आगमोक्त, निष्पक्ष, समतापूर्ण उपदेश आदि दे सकते हैं। कुछ साधु प्राचीन मन्दिर, मूर्ति, जिनशासन यक्ष-यक्षणी की मूर्ति क्यों

तोडते हैं।

3) अनावश्यक बाह्य क्रियाकाण्ड, छूअ ा- छूत, आडम्बर पूर्ण प्रदर्शन, धनव्यय, विज्ञापन, भीड-भाड, लोकरंजन, लोकसंग्रह/भीड-इकट्ठा, नाम-प्रसिद्धि आदि साधु क्यों करते हैं ? हाँ ! समुचित सत्कर्म के योग्य तन, मन, धन, जन, समय, श्रम का सदुपयोग होना चाहिए।

4) साधु केवल आहार में तो अहिंसा, शुद्धता का तथा प्रवचन में प्रेम, वात्सल्य, सेवा, क्षमा, अपरिग्रह, समता, सरलता, त्याग, विश्वबंधुत्व, संगठन, परोपकार, उदारता आदि का तो पाठ पढाते हैं परंतु स्वयं में व्यावहारिक जीवन में वे सब गुण क्यों नहीं अपनाते हैं ? केवल दूसरों में सुधार क्यों चाहते हैं? हाँ ! स्वयं आदर्श बनकर दूसरों को भी आदर्श की शिक्षा देनी चाहिए। समाचार विधि के अनुसार आगन्तुक साधुओं के स्वागत के लिए जाना, यथा योग्य आदर-सत्कार, नमोस्तु-प्रतिनमोस्तु, वसतिका आदि में स्थान प्रदान आदि नहीं करना, आर्यिकाओं की पूजा निषेध करना, पूजा नहीं करने के लिए श्रावकों को नियम देना आदि क्यों करते हैं? श्रावक साधु के निर्देश से/ उपदेश से कार्य करें परन्तु साधु श्रावक की इच्छा/ स्वार्थ पूर्ति के अनुसार क्यों चलते हैं ?

5) साधु/ आचार्य बिना परीक्षण- निरीक्षण किये अयोग्य व्यक्तिओं को दीक्षा/ पदवी प्रदान क्यों करते हैं ? साधु एकलविहारी क्यों होते हैं ? चन्दा, चिट्ठा, गाड़ी, चौका, नौकर-चाकर, परिग्रह, मंत्र, यंत्र, तंत्र, वैद्यक, औषधि, ताबीज, रक्षा पोटली, माला बेचना, भूत भगाना, ज्योतिषीकर्म, कुण्डली निर्माण, यक्ष-यक्षणी की पूजा स्वयं करना आदि कार्य क्यों करते हैं ? हाँ ! आगमानुकूल योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को देखकर दीक्षा आदि साधु योग्य कार्य तो विधेय है।

6) साधुसंस्थाओं में परस्पर प्रेम-संगठन, अनुशासन क्यों नहीं हैं ? बहुनायकत्व, अनायकत्व या अयोग्य नायकत्व क्यों हैं ? अयोग्य भी शिष्य/साधु कम बनते है परन्तु गुरु/आचार्य भी क्यों अधिक बनाया जाता हैं/बनते हैं? प्रसिद्धि या अर्थसिद्धि या धन-श्रम-समय बर्बादि को कारणभूत जन्म-जयन्ति आदि क्यों मनाते हैं/मनवाते हैं ?

7) जिस आहार, विहार, निवास, व्यवहार से साधुओं को (गृहस्थ/श्रावकों को भी) संक्लेश, स्वास्थ्यहानि, स्वाध्याय-ध्यान साधना में व्यवधान हो ऐसा आहारादि क्यों करते हैं ? योग्य विहारदि तो विधेय है। मण्डल विधान, बडे-बडे आयोजन जो श्रावकों की शक्ति/भक्ति के भार स्वरूप है उसे करने के लिए साधु श्रावकों को जबरदस्ती क्यों करते हैं ? साधु का अधिक से अधिक काम श्रावकों को प्रेरित करना

है, विश्वास जगाना है न कि विवश करना है।

उपर्युक्त वर्णन से मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि केवल साधु ही दोषी है, उसे ही सुधरना है। परंतु अधिकांश गृहस्थ (जैनी श्रावक) स्व-कर्तव्य/धर्म की दृष्टि से अधिक दोषी है; उसे ज्यादा सुधरना है। कुछ साधुओं के कुछ दोषों के लिए भी कुछ जैनी-गृहस्थ दोषी होने के साथ-साथ स्व-दोषों से भी युक्त है। इसीलिए तो कुछ महीना पहले साधुओं के दोष दूर करने के लिए जो प्रस्तावना छपी थी उसकी समीक्षा में मैं एक विस्तृत लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ था जिसमें मैंने लिखा था केवल कुछ साधु ही दोषी नहीं हैं अधिकांश श्रावक भी अधिक दोषी हैं, इस सम्बन्धी में मैंने 1) धर्मिक कुरीतिओं का परिशोधन 2) ये कैसे धर्मात्मा-निर्व्यसनी-राष्ट्रसेवी 3) पूजा से मोक्ष-पुण्य-पाप भी 4) आदर्श विचार-आहार-विहार 5) श्रमण संघ सहिंता आदि साहित्य की रचना की है।

"प्रायः लोकः तस्य चित्तशोधनमितिः प्रायश्चित्तः" अर्थात् लोगों के चित्त को शोधन करना प्रायश्चित्त होने से, प्रायश्चित्त ग्रंथ के अनुसार प्रछन्नदोषों को प्रछन्न रूप से तथा अप्रछन्न दोषों को अप्रछन्नरूप से प्रायश्चित्त करने का विधान होने से तथैव च गृहस्थ आदि दूसरे लोग निन्दात्मक दोष कहे लिखे उससे अच्छा है दोष दूर करने की भावना से उपगूहन, स्थितिकरण आदि अंग से युक्त होकर कोई साधर्मी साधु या आचार्य कहें लिखे उत्तम है। मेरे समीपस्थ/संघस्थ साधुओं को तो मौखिक रूप से बोलता हूँ परंतु दूरस्थ साधुओं के लिए लिखना आवश्यक/अनिवार्य हुआ है, साधुओं का कर्तव्य है विस्फोटक-स्थिति के पहले स्व-स्व दोष दूर करे।

"रुसउ वापरो मावा, विसं वा परियतउ।
भासियव्वा हिया भासा सपक्खगुण करिया"।।

जिसे उपदेश दिया जाता है, वह चाहे रोष करे, चाहे उपदेश को विष रूप से समझे परंतु उपदेशक को हितरूप वचन अवश्य कहने चाहिए।

न भवति धर्मः श्रोतुः सर्वश्यैकान्ततो हित श्रवणात्।
ब्रुवतोऽनुग्रहबुध्या वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति।।

उपदेश सुनने वाले सभी श्रोताओं को पुण्य नहीं होता है क्यों कि जो उपदेश अच्छी भावना से सुनता है उसे पुण्य होता हैं। जो शुभ भावना से नहीं सुनता है उसे पुण्य नहीं होता है, परन्तु जो परोपकार की भावना से अनुग्रह बुद्धि से हितकर उपदेश करता है उसे अवश्य ही पुण्य होता है। अतः मैं मेरी मति सन्मति हो इसकी अनिवार्यता को स्वीकार करता हूँ।

22 साधु एवं श्रावको के दोषों के लिए परस्पर भी उत्तरदायी !

(सब साधु भ्रष्ट नहीं सब श्रावक श्रेष्ठ नहीं)

वैसे मैंने प्रायः दो दशकों से श्रमण/साधु एवं श्रावकों को आगमोक्त, सहिष्णु, उदार, व्यापक, पंथ-निरपेक्ष, समन्वयात्मक, आधुनिक, वैज्ञानिक, प्रेम-संगठनात्मक प्रशिक्षण/शिक्षा के लिए तथा दोष दूर करने के लिए हजारों स्वाध्याय, शिविर, कक्षा, संगोष्ठी, लेख, साहित्यों का आयोजन, लेखन आदि किया है परंतु यह लेख वर्तमान की ज्वलन्त समस्याओं के शीतल समाधान के लिए, तुरंत उपचार के समान एक संक्षिप्त नम्र प्रयास है। इसके पूर्व भी 1) केवल श्रावकों के दोष दूर करने के लिए एक लेख 2) केवल साधुओं के दोष दूर करने के लिए एक लेख लिखा था परंतु अभी 3) दोनों के दोष दूर करने के लिए यह लेख लिखा हूँ। इस लेख में भी मैंने जो तेरह प्रदेशों के 300/400 आचार्य, साधु, साध्वी, शताधिक पंडित, शताधिक व्रति, लाखों गृहस्थ श्रावकों के साथ-साथ चारों अनुयोगों का (छहढाला से लेकर धवला, जयधवला) एक निष्पक्ष समीक्षात्मक, समतापूर्वक वैज्ञानिक अध्ययन किया और कराया है उस अनुभव के आधार पर लिखा हूँ। इसमें मेरा किसी के प्रति राग-द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, भेद-भाव, अपना-पराया, ऊँच-नीच रूपी प्रतिशोध की भावना नहीं है अपितु परिशोधन/परिशुद्ध की भावना ही निहित है। अभी कुछ वर्षों से तो अनेक पंडित, श्रेष्ठीवर्ग, संपादक, श्रावक आदि मुझे दोनों के दोषों के बारे में बताते आ रहे थे परंतु अभी अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो रहा है उससे मुझे ज्ञान-भान हुआ कि यदि दोनों नहीं सुधरेंगे तो एक भयंकर विस्फोटक परिस्थिति अवश्यमभावी है; यह परिस्थति न हो एतदर्थ यह मेरा पूर्व नम्र प्रयास है।

1. ''परस्परोपग्रहो जीवाणाम्'' का अभाव या दुरुपयोग

जैन धर्म का, जीवों का, विश्व का तथा समस्त द्रव्यों का एक महान् सूत्र है ''परस्परोपग्रहो जीवाणाम्'' ''परस्परोपग्रहो गुणाणाम्'' ''परस्परोपग्रहो द्रव्याणाम्'' इस सूत्रानुसार ''''परस्परोपग्रहो श्रमण श्रावकाणाम्'' के अनुसार श्रमण तथा श्रावक परस्पर अनुपूरक-परिपूरक, सहयोगी हैं। श्रमण धर्म या श्रमण बिना न श्राावक धर्म या श्रावकधर्म का अस्तित्व, संरक्षण, संवर्धन संभव है तथैव च श्रावक के बिना श्रमण का। भ. आदिनाथ से लेकर पंचम काल के अन्त तक के पुराण, इतिहास, भविष्य इसके लिए साक्षी हैं। पंचमकाल के अन्त में मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका चारों की एक दिन में ही समाधि होगी और उत्तम गति को प्राप्त करेंगे। अन्तिम श्रुतकेवली के समय में जो बारह वर्ष का भयंकर दुष्काल पडा जिससे उत्तर भारत

के श्रावक साधुओं की आहार चर्या, सेवा, सुरक्षा में असमर्थ हुए तो आचार्य भद्रबाहु स्वामी 12000 साधुओं को लेकर दक्षिण भारत चले गये जिसके कारण उत्तर भारत में जैनधर्म का ह्रास, विकार, भेद-प्रभेद हुए; इसी प्रकार सदा-सर्वदा-सर्वत्र तथा वर्तमान में भी जान लेना।

2) ख्याति-पूजा-प्रसिद्धि आदि दोष तथा कर्तव्य बाह्य कार्य

वैसे तो सम्यग्दृष्टि जैन श्रावक, पंडित, साधु-संत का परम लक्ष्य आत्मकल्याण ''सिद्धि स्वात्मोपलब्धि'' ही होनी चाहिए और तदनुकूल मनसा, वचसा, कर्मणा, कृत, कारित, अनुमोदना भी होनी चाहिए। परंतु जो साधु ख्याति-पूजादि के लिए क्षेत्र निर्माण से लेकर जन्मजयंति, विज्ञापन, अनावश्यक आडम्बर, फिजुल खर्च करते हैं, करवाते हैं क्या उसमें भी श्रावक से लेकर पंडित तक माईक, माला, मंच, मुद्रा (Money), मान (प्रसिद्धि) रूपी पंच मकार के लिए नवकोटि से सहभागी नहीं होते हैं ? अवश्य होते हैं। फिर इसमें केवल साधु ही दोषी क्यों ? यहाँ तक कि मेरे अनेक अनुभव हैं- कुछ श्रावक से लेकर पंडित तक अनेक साधुओं को उपर्युक्त कार्यों के लिए अनुरोध, आग्रह, प्रलोभन देते हैं, उनका इस्तेमाल करते हैं, स्वार्थसिद्धि करते हैं, फिर कार्य होने के बाद साधुओं की निन्दा भी करते हैं। ऐसा दोगलापन क्यों? जो साधु निर्माण आदि कार्य, अर्थ संग्रह के लिए कारण नहीं बनते हैं उनसे तो अधिकांश श्रावक, पंडित आदि कटकर रहते हैं, उन्हें योग्य नहीं मानते हैं, उनके पास नहीं आते हैं, आहारचर्या, सेवा, व्यवस्थादि नहीं करते हैं ऐसा विरोधाभास क्यों? यह सत्य है कि आगमानुसार साधु श्रावक के योग्य अनेक कार्य स्वयं नहीं कर सकते हैं। यथा- मंदिर, मूर्ति, क्षेत्र, धर्मशालादि का निर्माणादि। तथापि क्या श्रावक स्वयं कर्तव्यों का पालन करते हैं, कर्तव्य बाह्य कार्य नहीं करते हैं ? रयणसार में श्रावक एवं श्रमण के बारे में कहा है -

दाणं पुया मुक्खं सावय धम्मे ण सावया तेण विणा।
झााण अज्झयणं मुणि धम्मे ण तेण सो वि।।

अर्थात् जो आहारदान, औषधिदान, ज्ञानदान, वसतिकादान, अभयदान नहीं करता है तथा देव, शास्त्र, गुरुओं की पूजा, सेवा, व्यवस्था नहीं करता है वह श्रावक ही नहीं है क्योंकि श्रावकों के देवपूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय, संयम, तप, दान आदि कर्तव्यों में से दान, पूजा मूख्य कर्तव्य हैं। इसी प्रकार साधुओं के समस्त कर्तव्यों में ध्यान, अध्ययन मुख्य हैं। ध्यान अध्ययन के बिना साधु/साधुता नहीं है। परंतु अभी कुछ साधु श्रावक के कर्तव्य (पूजा, निर्माण कार्यादि) अधिक करते हैं तथा साधु के कर्तव्य (ध्यान, अध्ययन) कम करते हैं। खेदजनक प्रायोगिक जीवन्त सत्य यह है कि

अधिकांश श्रावक स्व कर्तव्य के विपरीत/भ्रष्टाचार, अकर्तव्य में लिप्त हैं। यथा-

पेट पूजा धनोपास्ति व्यसन फैसनश्चापि।
होटल सिनेमाश्चापि षटकर्माणि दिने दिने।।

उपर्युक्त भ्रष्टाचार, कदाचार को करने वाले क्या देव, शास्त्र, गुरु, धर्म की सेवा, सुरक्षा, समृद्धि, प्रभावना करेंगे ? दूसरों के लिए आदर्श की स्थापना करेंगे? ऐसे व्यक्ति का क्या नैतिक अधिकार है कि दूसरों के दोषों को बताने का? यदि ऐसा व्यक्ति भी ईर्ष्या-द्वेषादि भाव से दूसरों के, साधुओं के दोष बतायेंगे तो क्या गटर के पानी से गंदा कपडा को साफ करने के सम्मान नहीं होगा ? इसी प्रकार स्वकर्तव्य से रहित साधु भी यदि दूसरों को उपदेश देंगे, दोष बतायेंगे तो उसका परिणाम भी उपर्युक्त ही होगा।

3. दोषों के कारण एवं निवारण

"कारण कार्य संबन्ध" "बिन जाने ते दोष गुणन को कैसे तजिए गहिए" "कारणाभावे कार्याभाव" "As you think so you become" "As you show so you reap" के अनुसार हमें उपर्युक्त दोषों के निष्पक्ष, गहन, यथार्थ कारणों का अनुसंधान करके दोषों को त्यागकर गुणों को स्वीकार करना केवल आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। इसे ही तो यथार्थ ज्ञान, सम्यग्ज्ञान, वीतरागविज्ञान कहा है। यथा -

"हिताहित परिहार समर्थं प्रमाणं तत् ज्ञानमेवं"। (परीक्षामुख)

जो हित की प्राप्ति अहित के परिहार करने में समर्थ है वही ज्ञान यथार्थ से प्रमाणीभूत है। उपर्युक्त दृष्टि से कारणों का वर्णन कर रहा हूँ। कलिकाल में अधिकांश लोग श्रद्धा, विवेक एवं आत्मकल्याण की बुद्धि से रहित होकर धर्माचरण, अहंकार की पुष्टि, ख्याति, प्रसिद्धि, यश, लाभ, कीर्ति के लिए करते हैं। पूर्वाचार्यों ने भी कहा हैं-

भयं दक्षिप्य कीर्ति च लज्ज्या आशा तथैव च।
पचभिः पंचमेकाले जैनो धर्म प्रवर्तते ।।

पंचमकाल में लोग जैन धर्म को लोक भय, अन्य का मन दुःखित न होने के लिए, कीर्ति, लज्जा, आशा से पालन करते हैं। "प्रवाहे वर्तते लोको न लोकः परमार्थिकः" "निकले थे हरि भजन को कातन लगे कपास" के अनुसार दूसरों का अन्धानुकरण, क्षुद्र लक्ष्य, लक्ष्य भ्रष्ट, भीड इकट्ठा, लोक प्रसिद्धि, नाम बढाई, स्वार्थ सिद्धि, दूसरों को नीचा गिराकर स्वयं को ऊपर उठाना आदि कारण भी उपर्युक्त दोष के लिए कारण हैं। तथैव च

उष्ट्राणां विवाहेषु गीत गायति गर्धभा।
परस्पर प्रशंसंति अहो रूप अहो ध्वनि।।

अर्थात् ऊँट के विवाह में ऊँट ने गधे को गीत गाने के लिए निमंत्रण दिया। गधा आकर उसके विवाह में उसके रूप की प्रशंसा में गीत गाया तो ऊँट प्रसन्न होकर गधे की ध्वनि की प्रशंसा की। इसीप्रकार साधु, श्रावक जिससे स्वयं की स्वार्थ सिद्धि होती है उसकी प्रशंसा में सुललित मधुर कंठ से राग अलापते रहते हैं।

घटं भित्वा पटं छित्वा कृत्वा गर्दभं रोहणम्।
येन केन प्रकारेण मनुष्यः प्रसिद्धः भवेत्।।

घट तोडकर, वस्त्र को फाडकर, गधे के ऊपर चढकर येन-केन प्रकार से भी मनुष्य प्रसिद्ध बनना चाहते हैं अर्थात् मनुष्य प्रसिद्ध बनने के लिए योग्य-अयोग्य, न्याय-अन्याय, करणीय-अकरणीय, शोभनीय-अशोभनीय आदि सब कार्य करता है। मेरे दीर्घ अनेकों अनुभव भी हैं कि अधिकांश सामान्य जन से लेकर साधु-संत तक दान, तप, पूजा, विधान, पंचकल्याणक, केशलोंच, जन्मजयंति, दीक्षाजयंति, चातुर्मास, विहार, भाषण-प्रवचन, ज्ञानार्जन से लेकर धर्मार्जन, फैशन, व्यसन, हाव-भाव, बोली, बोलना, चलना, खाना, जीना आदि प्रसिद्धि/ दिखावा केलिए करते हैं। यदि अच्छी भावना से दान आदि श्रावक करते हैं तथा मुनि स्व-कर्तव्यों का पालन करते हैं तब आत्म विशुद्धि, पाप कर्म का संवर तथा निर्जरा, पुण्य संचय के साथ-साथ आनुसंगिक रूप से और भी अधिक कीर्ति/प्रसिद्धि स्वयमेव होती है। परंतु जीव मोह, अहंकार आदि के कारण यथार्थ का परिपालन नहीं कर पाता है। जैसा कि "मृग मरीचिका"।

कलिकाल में धर्म करने वाले धन्य

धन्या भारतवर्ष संभवजना योऽद्यापि काले कलौ।
निस्तीर्थेश्वर केवले निरवद्यो भ्रश्यन्मनःपर्यये।।
त्रुट्यच्छ्रोत्र विशेष संपदि भव दौर्गत्यदुःखापादि।
श्री जैनेन्द्रबचोनुरागवशतः कुर्वित धर्मोद्यमम्।।

वर्तमान घोर पंचम कलिकाल में तीर्थंकर, केवली, अवधि, मनःपर्यय ज्ञानियों का आभाव हैं, योग्य श्रोताओं का भी अभाव हैं, विशेष वैभव से रहित, दरिद्रता आदि संकट से सहित कलियुग के मनुष्य हैं। इसी प्रकार विपरीत कलियुग में भी जो जिनेन्द्र देव के वचनानुसार धर्म में उद्यत होते हैं वे अत्यन्त अभिनंदनीय, अभिवंदनीय एवं धन्यवाद के पात्र हैं।

प्राचीन काल में अर्थात् चतुर्थ काल में धर्म साधन के अनुकूल परिस्थिति थी। इसीलिए उस समय में धर्म का आचरण करना सरल साध्य था, परंतु वर्तमान पंचम काल में विपरीत परिस्थिति में धर्माचरण कष्ट साध्य है। जैसे अनुकूल जल के स्रोत में नौका को खेकर ले जाना सरल सहज है, परंतु प्रतिकूल स्रोत में नौका को खेकर

ले जाना श्रम साध्य है। जो प्रतिकूल स्रोत में एवं तुफान के समय में नौका को खेकर अपने गंतव्य स्थान की ओर बढते हैं, वह जैसे धन्यवाद के पात्र हैं उसी प्रकार उपर्युक्त कलिकाल में जो धर्म का श्रद्धापूर्वक, विवेकपूर्वक पालन करते हैं वे धन्य हैं।

इसलिए आगम में कहा है कि पंचमकाल के एक वर्ष की तपस्या चतुर्थकाल के एक हजार वर्ष की तपस्या के बराबर है। "शक्तितःत्यागतपसि" के अनुसार जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को सन्तुलित करके ध्यान, अध्ययन, तप, त्याग, दान करता है, वह धन्य है। इसके विपरीत करने वाले अयथार्थ हैं। चतुर्थ काल में भी उत्तरगुण के साथ-साथ कोई कोई मूलगुण की विराधना करने वाले मुनि/ साधु होते थे जो कि भाव मुनि के साथ साथ तद्भव मोक्षगामी भी थे, अतः द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, शरीर-शक्ति, रोग, शीत, वर्षा, गरमी, भोजन, परिवार, पर्यावरण, रोग कारक कीट-पतंग, पशु-पक्षी के कारण यदि उत्सर्ग/राजमार्ग के सहयोगी अपवाद मार्ग/मध्यम मार्ग का आश्रय लेते हें वे भी दोषी नहीं हैं, निन्दा के पात्र नहीं हैं, आगम विरुद्ध नहीं हैं। इसके बिना अभी तक न कोई मोक्ष गये हैं, न अभी कोई साधक हैं न आगे मोक्ष जा सकते हैं। तीर्थंकर भी पूर्व भव में इस मार्ग का आवलम्बन लेते हैं और तीर्थंकर अवस्था में भी इसका उपदेश देते हैं; जिसका वर्णन आगम में है। "शरीर माध्यम् खलु धर्मसाधनम्" के अनुसार भी जो साधु उत्सर्ग सहित अपवाद का आलम्बन लेते हैं उन्हें दोषी माननेवाले भी, कुछ बाह्य क्रिया-काण्ड को ही येन-केन प्रकार से ढोनेवाले परंतु अन्य बडे बडे दोष करने वालों को भी श्रेष्ठ मानते हैं।

हम 20-25 वर्षों से जैन धर्म के सिद्धान्तों का विश्लेषणात्मक, निष्पक्ष, आधुनिक, वैज्ञानिक, अध्ययन, अध्यापन, लेखन, प्रशिक्षण, प्रचार-प्रसार, जैन साधु से लेकर जैन-अजैनों में, देश-विदेश में कर रहे हैं जिसके लिए हमें उच्चस्तरीय अनेक दिगम्बर, श्वेताम्बर जैन, अजैन देश-विदेश के वैज्ञानिक, प्रोफेसर्स, संस्थादि हर प्रकार के सहयोग कर रहे हैं परंतु खेदजनक आश्चर्य है कि दि. जैनों के अधिकांश साधु, संस्था, संगठन, अध्यक्ष, मंत्री, उद्योगपति, श्रीमान्, धीमान्, दानवान् व्यक्ति हमें कम सहयोग करते हैं। भले वे धर्म के लिए बोलते हो, लिखते हो, मंच, माईक आदि के लिए सहयोग करते हो या फैशन-व्यसन के लिए योगदान करते हो। इसलिए हमने यह ध्येय बनाया है कि "यदि तोर डाक सुनी कोई न आसे तू अकेला चलो रे तू अकेला चलो रे !" अर्थात् हमें दूसरों की तो योग्य तन, मन, धन, समय, श्रम की अपेक्षा है परंतु यदि हमारी कोई उपेक्षा भी करता है तो हम सतत चलते हैं। अन्तमें "जं सक्कई तं किरई जं ण सक्कई तं च सद्धहणं।" "जयतु जिनशासनम् श्वैराचार विरोधिनी"।

(उपर्युक्त समस्त विषयों का प्रमाण हमारे पास है)

23 आई एम डंकी मिन्स इण्डियनस् आर डंकी ? !

मैंने 18-10-04 के समाचार पत्र में पढा कि हमारी मातृभाषा हिंदी के सम्मान का इतना बुरा हाल है कि बोलचाल में भी इसका उपयोग करने वाले बच्चों को गधे की उपमा दी जाती है। राजधानी भोपाल में अंग्रेजी माध्यम के एक स्कूल में ऐसा ही नियम है। यहाँ पांचवी कक्षा के छात्र के गले में 'अई एम डंकी' लिखी हुई तख्ती टांग कर सारे वच्चों के सामने खडा किया गया। उसका अपराध यह था कि वह अपने साथी से हिंदी में बातचीत कर रहा था।

पंजाबी बाग स्थित एमजीएम को-एड स्कूल के पाँचवी कक्षा के छात्र आकाश खुल्लर को हिंदी में बात करने के कारण पूरे स्कूल के बच्चों के सामने शर्मिन्दा होना पडा। अपने दोस्त के साथ हिंदी में बात करने पर उसे गले में तख्ती टांगकर कक्षा में पूरे तीन पीरियड तक सबके सामने खडे होने की सजा सुनाई गई। छुट्टी के समय सारे रास्ते स्कूल के बच्चों ने गधा कह कर चिढाया। इतना ही नहीं अगले दिन क्लास टीचर ने उसे घर पर शिकायत करने के लिए चार पाँच चांटे भी रसीद किए।

आकाश की मम्मी मीनु खुल्लर ने बताया कि इस सजा के बाद छात्र बेहद नर्वस हो गया था। प्राचार्य से इसकी शिकायत करने पर उन्होंने इसे स्कूल का नियम बता कर टाल दिया और उनसे कहा कि यदि यह पसंद नहीं तो टीसी निकाल लो। छात्र आकाश ने बताया कि रीसेस में खाना खाते समय वह अपने दोस्त शुभम से बात कर रहा था।

क्लास मानीटर ने देख कर टीचर को बता दिया था। आकाश ने बताया कि स्कूल में ऐसी तख्तियाँ बनी रखी रहती हैं। आकाश नर्सरी से ही इसी स्कूल में पढ़ रहा है।

आकाश की मम्मी का कहना है कि यदि बच्चा सात सालों में अंग्रजी में बात करना नहीं सीख पाया तो यह शिक्षकों की कमजोरी हैं। उन्होंने कहा कि स्कूल यह व्यवहार मातृभाषा का अपमान हैं। आकाश के माता-पिता इस मामले की शिकायत मानव अधिकार आयोग में भी कर रहे हैं। स्कूल के प्राचार्य फादर लुईस से इस बात की पुष्टि करने पर उन्होंने पहले इस घटना को झूठ और मनगंढ़त बताया। बाद में उन्होंने स्वीकारा कि यह हमारे स्कूल का नियम हैं। तीन माह में अग्रेंजी में बात करना नहीं सीख पाने वाले छात्र के गले में 'आई एम डंकी' की तख्ती टांगी जाती हैं। उन्होंने कहा यह एक सजा हैं जो

नियम तोड़ने वाले बच्चों को दी जाती हैं।''

यह घटना, नियम, यातना, अपमान, क्रूरता, अन्धानुकरण, भेड़चाल, जंगली नियम-कानून-व्यवहार, पिछड़ापन, गुलामीपना और कुछ भी विशेषणों से विभूषित करो यह केवल इसी ही स्कूल में नहीं है ऐसे हजारों स्कूल में लाखों भारतीय मासूम बच्चों के साथ रोज ऐसा व्यवहार होता हैं। ऐसा ही नहीं इससे भी और क्रूर, पाशविय, नृशंस, निष्ठुर व्यवहार होतें हैं। ''गुरु कुंभार कुंभ शिष्य हैं गढ़-गढ़ काढे खोट अन्दर हाथ पसारकर ऊपर मारे चोट'' के अनुसार तो दोषी शिष्य को सुधारना/शिक्षा देना/प्रायश्चित्त देना/ दण्डित करना गुरु का नैतिक कर्त्तव्य है परन्तु अनावश्यक या अधिक या दुष्ट भाव से शारीरिक, मानसिक, आर्थिक आदि दण्ड देना शिक्षा, गुरु-शिष्य, ज्ञानदान जैसे पवित्र क्षेत्र, सम्बन्ध, कर्त्तव्य के लिए अशोधनीय, कलंक, दोषकारक, दुर्गुण उत्पादक, विध्वंस कारक है। यह सब कुछ इस समाचार के आधार पर नहीं लिख रहा हूँ किन्तु मेरे जीवन के 45 वर्ष के विद्यार्थी अवस्था से आचार्य अवस्था तक के 13 प्रदेशों के हजारों स्कूल-कॉलेज-शिक्षक, लाखों विद्यार्थी एवं दशों-विसों लाखों अभिभावों के अनुभव के आधार पर लिख रहा हूँ। इन कारणों से भारतीय बच्चों में विद्यार्थी जीवन से ही हीनभावना, दहशतपना, ज्ञान तथा गुरु प्रति घृणा एवं प्रतिशोध की भावना घर कर लेती है जिसकी प्रतिक्रिया स्वरुप कुफल/ कुसंस्कार/कुव्यवस्था/भ्रष्टाचार/कदाचार भारत में सर्वत्र दिखाई दे रहे हैं।

यदि अपनी मातृभाषा में या अन्य कोई भी भाषा में बोलने वाला यदि डंकी हैं तो प्रत्येक भाषा में बोलने वाले डंकी (गधा/मूर्ख) हो जावेंगे। यदि भारतीय अपनी मातृभाषा में बोलने पर डंकी बन जाते हैं तो अग्रेजी भी अपनी मातृभाषा बोलने पर डंकी हो जायेंगे। यदि ऐसा होता है तो वे कोई भी मनुष्य नहीं रहते वे सब मनुष्य डंकी हो जाते जो अपनी मातृभाषा बोलते; तब तो हेन्दी, अंग्रेजी, जर्मनी आदि भाषा बोलने वाले डंकी पाये जाते। परंतु ऐसा तो गाया नहीं जाता है, नहीं होता है न ही संभव ही है। इसलिए जो मानते हैं, बोलते हैं, लिखते हैं कि अपनी मातृभाषा बोलने वाले डंकी है वे ही यथार्थ में बुद्धि/भावना/वचन/व्यवहार से डंकी है। अर्थात् मनुष्याकार गधे हैं। जैसा कि दो पंडित एक सज्जन के घर गये हुए थे। सज्जन ने दोनों पंडितों को एक दूसरे के बारे में पूछा। एक ने दूसरे को गधा कहा तो एक ने बैल। जब दोनों खाने के लिए बैठे तो सज्जन ने एक के सामने चारा और एक के सामने भूसा रखा। दोनों ने जब नाराज होकर पूछा कि क्या हम गधा और बैल हैं जो तुमने

यह सब रखा है। तब सज्जन ने कहा आपने ही तो कहा था वह गधा है और दूसरा बैल है। इस प्रकार यहाँ तथा सर्वत्र जान लेना चाहिए। जो जिस रंग का चश्मा लगाता है उसे हर वस्तु उसी ही रंग की दिखाई देती है।

अभी वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया है जो अनेक भाषा जानता है वह एक भाषा जानने वालों से अधिक बुद्धिमान होता है। यदि कोई केवल अंग्रेजी जानता है अन्य भाषा नहीं तब तो वह एक भाषा जानने के कारण कम ज्ञानी होगा। तीर्थंकर विश्व के म्लेच्छों की भाषा सहित समस्त जीवों की भाषा यहाँ तक कि पशु - पक्षी की भी भाषा (718 भाषा) बोलते थे महात्मा बुद्ध जनसाधारण की भाषा (पाली) बोलते थे। देश-विदेश के अनेक साधु-संत, विद्वान्, महापुरुष स्वमातृभाषा से लेकर अनेक भाषा बोलते हैं। मैं स्वयं विद्यार्थी जीवन से ही देश-विदेश की अनेक भाषा जानता हूँ, पढता हूँ, लिखता हूँ और बोलता भी हूँ तो भी मैं स्वयं को गधा अनुभव नहीं करता हूँ। ऐसे प्रत्यक्ष/अनुभव/परिक्षित/प्रामाणिक होते हुए भी हम कैसे मानेंगे कि जो अपनी मातृभाषा में बोलता हैं वह डंकी है। देश-विदेश के कोई भी महापुरुषों ने यह नहीं माना, नहीं कहा, नहीं लिखा है कि जो अपनी मातृभाषा या कोई भाषा विशेष में बोलता हैं वह डंकी है। ऐसी परिस्थिति में जो दूसरों को डंकी कहता है उसे यथार्थ से यह करके दिखाना पडेगा जैसा कि वैज्ञानिक करते हैं। नहीं तो वह इस आधुनिक वैज्ञानिक युग के नहीं है वह तो कोई बर्बर, जंगली, असभ्य युग के हैं या स्वयं उस प्रकार के हैं।

भारत वह देश है जिसने विश्व को ज्ञान, विज्ञान, आध्यात्म, गणित, भाषा, व्याकरण, संस्कृति आदि का पाठ पढाकर विश्वगुरु कहलाया था और स्वर्ग से भी महान् था, जिसके कारण स्वर्ग के देव भी यहाँ जन्म लेने के लिए लालायित होते थे। महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन् ने भी भारत में जन्म लेने की भावना व्यक्त की थी। प्राचीन काल में भारत के नालन्दा विश्वविद्यालय, विक्रमशिला विश्वविद्यालय, तक्षशिला विश्वविद्यालय, गुरुकुल, साधु-संत, विद्वानों के पास अध्ययन के लिए विदेशों के विद्वान् आते थे। ह्वेनसांग, मेघस्थनीज, ईसामसीह से लेकर मेस्कमूलर, जेकोबि, एनीबीसेन्ट आदि की लम्बी श्रृंखला है। परंतु अत्यन्त दुःख का विषय है कि भारत के दुष्टों, दुर्गुणों के कारण तथा विदेश के मुट्ठीभर असभ्य-बर्बर-लुटेरां-आक्रान्ताओं के कारण भारत प्रायः डेढ-दो हजार वर्ष तक गुलाम रहा और अभी स्वतंत्र हुए 58 वर्ष के बाद भी मानसिक, सांस्कृतिक, भाषागत, कानूनी, सभ्यतादि की दृष्टि से गुलाम है।

पहले गोरे चमडे वाले भारत को गुलाम बनाये थे तो अभी काले चमडे वाले भारत को नष्ट-भ्रष्ट, दीन-हीन, निर्लज बनाने में निरक्षरों से भी ज्यादा साक्षर मूर्खों (एजुकेटेड डंकी) का हाथ है।

मैने जो देश विदेशों की विभिन्न भाषाओं के विभिन्न साहित्यों का एक निष्पक्ष, वैज्ञानिक-दृष्टि से अध्ययन किया उसके आधार पर मेरा अनुभव है कि भारतीय भाषा यथा- संस्कृत, प्राकृत, पाली आदि में जो गंभीर-गहन, उदार, उदात्त तत्त्व दर्शन, ज्ञान -विज्ञान है वह अन्य किसी भी भाषा में नहीं है। अंग्रेजी तो एक सामान्य जनजाति की भाषा है। अंग्रेजीयों के उपनिवेश काल में इसका कुछ प्रचार हुआ। वर्तमान में कुछ वैज्ञानिक विषय अंग्रेजी में है। अभी सब से अधिक चीनी भाषा बोली जाती है दूसरा नंबर अंग्रेजी का है और तृतीय स्थान में हिन्दी है। तथापि भारतीयों की दुर्बलता/अकर्मण्यता/परतंत्रता के कारण अभी तक हिंदी को ''संयुक्त राष्ट्र संघ'' में मान्यता नहीं मिल पाई है जब कि अन्य अनेक भाषाओं को मान्यता प्राप्त है जिसको बोलने वाले चन्द करोडो में हैं। जब भारत में ही भारतीय भाषा का हिंदी की दुर्दशा भारतीयों ने कर रखी है तो विदेशी क्यों सम्मान देंगे ?

विश्व इतिहास साक्षी है कि जो व्यक्ति, जाति, राष्ट्र, अहंकारी, आलसी, उत्शृंखल, फैशनी-व्यसनी बन जाता है उसका पतन अवश्य है; उसी प्रकार जिसमें अपनी अच्छी संस्कृति, भाषा आदि के प्रति गौरव, स्वाभिमान, सम्मान आदि नहीं होता है उसका पतन भी अवश्य है।

जापान, जर्मनी आदि छोटे देश में भी जो विकास है उसके कारण है, अपनी संस्कृति, भाषा आदि के प्रति गौरव और भारत जैसे विशाल देश की दुर्दशा के कारण है अपनी संस्कृति, भाषा आदि के प्रति हीन-भावना। भारत ऐसा एक आजाद देश है जिसमें गुलाम के कानून, सभ्यता एवं भाषा का प्रचलन सबसे ज्यादा है। जैसा कि जो वृक्ष अपने मूल के द्वारा जमीन में दृढता से खडा है वह वृक्ष पल्लवित, पुष्पित, फलित होगा वैसा ही जो व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक अपनी सुसंस्कृति, भाषा से सुदृढ है वह भी विकसित, समृद्ध होगा।

शिशु गर्भ से ही माता के भोजन, भाषा, व्यवहार से परिचित होने से और मनुष्य एक अनुकरणप्रिय-सामाजिक प्राणी होने से वह अपनी मातृभाषा अन्य भाषा से अधिक सरल-सहजता से सीख लेता है, बोल लेता है, समझ लेता है, लिख लेता है। इसलिए बिना साक्षरता से भी बच्चा 4–5 वर्ष में मातृभाषा सीख लेता है। इसलिए जब बच्चा स्कूल में 5 वर्ष के बाद अक्षर ज्ञान

सीखने के लिए जाता है तब यदि उसे मातृभाषा में पढाया जावे तो वह शीघ्रता से सीख लेता है परंतु भारतीयों का पिछडापन है कि दो-अढाई वर्ष के नन्हें, मुन्ने, अविकसित, कोमल कलियों को विदेशी, गुलाम की भाषा अंग्रेजी में पढने के लिए विवश करते हैं। जबकी यह समय तो बच्चों के लिए प्यार-दुलार, खेल-कूद, मनोरंजन, संस्कार तथा शारीरिक, मानसिक विकास का है। यह ब्च्चों के लिए क्रूरता है, परतंत्रता है, विवशता है, ज्यादती है। ऐसी परिस्थिति में माता-पिता-गुरु-समाज-कानून, सरकार, बर्बर तानाशाह है और स्कूल यातना गृह है। जिस समय में बच्चे अपनी मातृभाषा भी नहीं जानते तब वे एकदम पराई भाषा के माध्यम से कैसे पढ सकते हैं ? बोल सकते हैं ! भाषा तो ज्ञान के लिए माध्यम है। जिन बच्चों को पहले माध्यम/साधन का ही ज्ञान नहीं है वह साध्य/लक्ष्य/विषय/ज्ञान को भी कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? इसलिए ऐसे बच्चों की दुर्दशा उसी प्रकार होती है जैसा कि ''चौबे छब्बे होने को गये रह गये दुब्बे''। इसलिए तो भारत की प्रतिभा को विकसित होने के लिए जो मुक्त वातावरण चाहिए वह नहीं मिलने के कारण वह अविकसित, विकृत हो जाती है। पृथ्वी की 1/6 जनसंख्या वले भारत में आज उसके अनुपात से कितने नोबल पुरस्कार प्राप्त व्यक्ति है, कितने वैज्ञानिक, लेखक, चिन्तक, समाज सुधारक, दानी, मानी, धनी, ज्ञानी, धर्मात्मा, नीतिमान, सदाचारी, परोपकारी है? अतः हमें विश्वगुरु भारतियों को शान-मान-अभिमान से निर्भय, निसंकोच, निर्द्वन्द, निर्बन्ध, असंकीर्ण होकर अपनी महान् संस्कृति-सभ्यता-भाषा-परम्परा को स्वीकार करके आगे बढकर समस्त बन्धन, मिथ्या मान्यता, अन्धानुकरण, दब्बुपना, दिखावा, अहंकार, ढोंग-पाखंड, अज्ञानता, भ्रष्टाचार को नष्टकर 'सच्चिदानन्द'' ''सत्यं शिवं सुन्दरम्'' ''सत्यसाम्यसुखामृतम्'' बनना है।

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं नर पशु निरा और मृतक समान है।।
नीव महल की आधारशिला है, बीज वृक्ष की आधारशिला है।
संस्कार देना है तो बच्चों को दो वे धर्म-राष्ट्र की आधारशिला है।।
असतो मा सत्गमयः, तमसो मा ज्योतिर्गमयः।
मृत्योर्मा अमृतं गमयः ओम् शांति! शांति!! शांति!!!

24 ओ भारतीय ! आधुनिक भवो !

मैं दीर्घ परीक्षण-निरीक्षण, परिणाम, अनुभव के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि अधिकांश (हजारों, लाखों में एकाध को छोडकर) भारतीय भले वे नगर के हों या ग्राम के, साक्षर हों या निरक्षर आधुनिक [Up to date] नहीं हैं। कुछ दृष्टि से तो नगर के लोग एवं साक्षर लोग ग्राम एवं निरक्षर से भी ज्यादा अनाधुनिक [Out of date] हैं। इसका किंचित् वर्णन इस लघु आलेख में कर रहा हूँ इसका विस्तृत वर्णन मैंने (आ. कनकनंदी) मेरी 1) बोल्ड, स्मार्ट, ब्यूटीफुल 2) भारत को गारत तथा महान् भारत बनाने के सूत्र 3) सर्वोदय शिक्षा मनोविज्ञान 4) उठो ! जागो !! प्राप्तकरो !!! आदि पुस्तकों में किया है।

भारतीय महान् संस्कृति, भाषा, आध्यात्मिकता, वैज्ञानिकता, भोजन, पहनावा, महापुरुष आदि को नकारना, विदेशों की यूज एण्ड थ्रो कल्चर(प्रयोग करके विसर्जित सभ्यता/झूठन/अन्धानुकरण/नकल) को तथा भारतीय तुच्छ हीरो-हीरोइन (जीरो-जीरोइन, नट-नटी, भाण्ड) का अकल बिना नकल करना शारीरिक श्रम नहीं करना, फैशन-व्यसन करना, अनुशासन, सेवा-नम्रता-शालीन, शील-सौजन्य से रहित होना आदि को आधुनिक जानते हैं, मानते हैं और व्यवहार करते हैं।

संक्षिप्त से आधुनिकता :-

वैज्ञानिक सोच एंव पद्धति, कार्यकारण सिद्धान्त, अनेकान्त एवं सापेक्ष दृष्टिकोण, विश्वमैत्री, विश्व प्रेम, विश्व-शान्ति, समन्वय, सहयोग, सत्यग्राहिता, समानता, सेवा, परोपकार, प्रगतिशीलता, सादा जीवन, उच्च विचार, जाति-पंथ-मत-देश-धर्म-भाषा-संस्कृति-सभ्यता आदि की संकीर्णता से रहित होना आदि आधुनिकता इससे रहित आधुनिकता संभव ही नहीं हैं।

1. भाव एवं व्यवहार में अनाधुनिकता :-

As you think so you become (जैसे सोचोगे वैसे बनोगे) जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि'' के अनुसार अधिकांश भारतीय उपरोक्त विशेषताओं से रहित होकर धर्म, जाति, भाषा, राजनीति आदि को संकीर्णता से सोचते हैं जिससे उनका व्यवहार भी तदनुकूल संकीर्ण,

भेद-भाव, ऊँच-नीच, ईर्ष्या-द्वेष से सहित, पिछडापना से युक्त होता है। एकाध अक्षर पढकर या एकाध पैसा कमाकर या एकाध बाह्य धार्मिक रीति-रिवाज पालन कर या छोटी-मोटी नौकरी पाकर अवचेतन संतुष्टी/अहंकारी/असामाजिक बनकर स्वयं को आधुनिक रूप में प्रदर्शन करते हैं। इसलिए तो ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' का दिव्य संदेश देने वाला विश्वगुरु भारत हजारों वर्ष तक गुलाम रहा और अभी भी मानसिक रूप में गुलाम है। इसके कारण ही रेडक्रॉस, रोटरी क्लब, लॉयन्स क्लब, संयुक्त राष्ट्र संघ, यूनीसेफ जैसे किसी भी एक सेवा संस्थान का प्रारम्भ भारत से नहीं हो पाया। इतना ही नहीं प्रचुर मात्रा में ज्ञान-विज्ञान के साहित्यों के उपलब्ध होने पर भी भारत में आधुनिक सूई से लेकर कम्प्यूटर की खोज, लोकतंत्र-समाजवाद का प्रथम प्रचलन/स्थापना नहीं हो पाई।

2. धर्म एंव शिक्षा में अनाधुनिकता :-

विश्व को आध्यात्मिकता प्रकाश से प्रकाशित करने वाला भारत जहाँ पर तीर्थंकर, अवतारी पुरुष, राम, कृष्ण, बुद्ध, ज्ञानी, विज्ञानी, सार्वभौम सम्राट आदि ने जन्म लिया, गुरूकुल-नालान्दा-तक्षशिला-विक्रमशिला आदि में देश-विदेशों के विद्वानों ने प्रशिक्षण प्राप्त किया आज उस भारत में धर्म एवं शिक्षा में भी वैज्ञानिकता, उदारता, श्रेष्ठता, ज्येष्ठता, गुणवत्ता, नम्रता, कर्त्तव्य-निष्ठा, प्रगतिशीलता, उत्पादकता, विश्वमैत्री, विश्व-शान्ति का केवल प्रायः कमी ही नहीं परन्तु अभाव या विकृत-स्वरूप है। इसलिए धर्म, धर्मक्षेत्र, धार्मिक जन तथा शिक्षा, शिक्षा क्षेत्र, साक्षरों में भी भ्रष्टाचार, लड़ाई-झगड़ा, अन्धविश्वास, अकर्मण्यता, संकीर्णता, पिछड़ापन पाया जाता है।

3. खान-पान, वेश-भूषा, भाषा में अनाधुनिकता :-

प्रत्येक देश की भौगोलिक-परिस्थिति, सभ्यता, संस्कृति, परम्परा आदि भिन्न-भिन्न होने के कारण वहाँ के खान-पान आदि भिन्न-भिन्न होना स्वाभाविक है और विधेय है। जैसा कि ग्रीष्म ऋतु और शीत ऋतु के खान-पान आदि भिन्न-भिन्न होते हैं। भारत एक ग्रीष्म प्रधान एवं आध्यात्मिक प्रधान देश होने के कारण यहाँ के खान-पान आदि अन्य

देश से भिन्न होना प्राकृतिक है। इस दृष्टि से भारत के खान-पान आदि सात्विक, अहिंसक, शीतल, पौष्टिक, सांस्कृतिक, सभ्य, काल-परिस्थिति के अनुकूल होते हैं। परन्तु अधिकांश भारतीय मांस, मछली, अंडा, मद्य, तम्बाकु नेलपालिश, लिपिस्टिक, विदेशी अश्लील वेश-भूषा, अंग्रेजी भाषा के प्रयोग को आधुनिकता मानते हैं।

4. सामाजिक अनाधुनिकता :-

''परस्परोपग्रहो जीवानाम्'' ''परोपकाराय सतां विभुतयः'', ''दरिद्रनारायण'', ''हरिसु जनसु हेत कर हरिजनसु हेत'', ''परोपकाराय पुण्याय पापाय पर पीडनम्'' आदि भारतीय सिद्धान्त जो कि वर्तमान के वैश्वीकरण (ग्लोबलाइजेसन्) के मूलाधार है; उस सिद्धान्त से न केवल भारतीय अनभिज्ञ है परन्तु उससे अत्यन्त विपरीत आचरण करते हैं। वर्तमान जापान एक समृद्ध-विकसित-आधुनिक राष्ट्र होने पर भी वह राष्ट्र अपनी प्राचीन अच्छी संस्कृति, सभ्यता, परम्परा नहीं छोडा है अथवा प्रकारान्तर से कहने पर नहीं छोडने के कारण समृद्ध है; परन्तु भारत में आधुनिकता की अंधी दौड में प्राचीन संस्कृति, विरासत से न केवल घृणा करते हैं परन्तु जो उसका पालन करते हैं उनसे भी घृणा करते हैं। उदाहरणार्थे- जो भारतीय परिधान धारण करते हैं, कच्चा मकान में रहते हैं, पशुपालन, कृषि करते हैं, परम्परागत शिल्प, सेवा आदि करते हैं, भारतीय भाषा बोलते हैं, सादा जीवन उच्च विचार वाले हैं, आध्यात्मिक-प्राचीन -ज्ञान-विज्ञान-आचरण से युक्त हैं, सेवाभावी हैं, शारीरिक श्रम करते हैं उन्हें गरीब, पिछडे हुए, तुच्छ मानते हैं, उनसे सम्पर्क करना, लेन-देन-चर्चा-सहयोग करना तथा बेटी व्यवहार करना आदि को अपमान कर घृणास्पद मानते हैं। इसलिए भारत की सामाजिक संयुक्त-परिवार की व्यवस्था नष्ट-भ्रष्ट हो रही हैं। आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्त यथा- इकोसिस्टम, पारिस्थितिकी, पर्यावरण की सुरक्षा आदि के अनुसार तो विश्व के प्रत्येक जीव, द्रव्य, घटक महत्वपूर्ण हैं, उनकी उपस्थिति के बिना विश्व की व्यवस्था असन्तुलित हो जायेगी तब क्या कृषक, पशुपालक, सेवाधर्मी, बढई, कुंभार, जुलाहा आदि के बिना सामाजिक, राष्ट्रीय व्यवस्था असन्तुलित नहीं होगी ? क्या इनके बिना भोजन, दूध, घी, गृहोपकरण आदि उपलब्ध होंगे ?

इसके बिना क्या मनुष्य जीवित रह सकता है? शिक्षित, सभ्य, आधुनिक विकसित हो सकता है ? शिक्षित, सभ्य, आधुनिक, विकसित हो सकता है ? नहीं कदापि नहीं। फिर जिनसे वह सुविधाए प्राप्त करता है जिससे वह जिन्दा है, जो उसकी सेवा, सुरक्षा करता है वे कैसे नीच हैं ? और वह उनसे कैसे श्रेष्ठ हैं ? निरक्षरी परंतु कुशल, दक्ष कृषक, पशुपालक, कुंभार आदि में जो प्रयोगिक अनुभवात्मक, परंपरागत, वैज्ञानिक, पर्यावरणीय, पूर्वानुमन, भौतिक, रसायन विज्ञान, तकनीकी का ज्ञान है वह ज्ञान अधिकांश उच्च साक्षर व्यक्ति में भी नहीं पाया जाता है। वे उच्च साक्षर व्यक्ति से भी अधिक स्वावलम्बी हैं। भारत में अधिकांश उच्च साक्षर व्यक्ति ही अधिक बेकार, भ्रष्ट, आलसी, फैशनी, व्यसनी हैं।

भारतीयों को आधुनिक बनने के लिए भ. महावीर, महात्मा बुद्ध, विवेकानन्द, महर्षि अरविंद, स्वामी रामतीर्थ, जे. के. कृष्णमूर्ति, पंडित श्रीराम शर्मा आचार्य, आचार्य तुलसी, जिनेंद्र वर्णी, आचार्य महाप्रज्ञ, सुभाषचंद्र बोस, सर जगदीशचंद्र बसु, गणितज्ञ रामानुजन, विनोबा भावे, महात्मा फुले, राष्ट्रपति ए.पी.जे.कलाम, वैज्ञानिक आन्स्टीन, राष्ट्रपति अब्राहिम लिंकन, मदर टेरेसा, फ्लोरेन्स नाईटेंगल, मेनका गांधी आदि को आदर्श बनाना चाहिए न कि सिनेमा, टी.वी. के अश्लील, भ्रष्ट, अभिनेता, खिलाडी, राजनीति के भ्रष्ट शोषणकारी नेता, खेल के भ्रष्ट खिलाडी, उद्योग व्यापार के घोटालेबाज, मिलावटकारी, शोषणकारी धन्ना सेठ को।

भारतीयों को आधुनिक बनाने के लिए हमने षष्टम् अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठी दिनांक 26–12 से 29–12–04 तक उदयपुर शहर में जैन कर्म सिद्धांत और उसके वैज्ञानिक, मनोर्वज्ञानिक एवं सामाजिक आयाम पर की है। इसी प्रकार 26 धर्म, दर्शन, विज्ञान प्रशिक्षण शिविर, चार कम्प्युटराइज्ड कौन बनेगा ज्ञानवान प्रतियोगिता, 145 शोधपूर्ण ग्रंथ एवं शताधिक लेख, प्रवचन, प्रश्नमंच, संस्कार, स्कूल-कालेज-जेल-सार्वजनिक प्रवचन, अन्य धर्मावलम्बियों के पर्व-मंदिर, कार्यक्रमों में प्रवचन आदि कर रहे हैं।

सही रूप उभरेगा उस दिन मानव के उत्थान का।
जिस दिन होगा मिलन विश्व में धर्म और विज्ञान का।।

25 छठी अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठी की विशेषतायें एवं शिक्षाएँ

भूतपूर्व प्रो. प्रभात कुमार जैन

प्रायः देखा जाता है कि उच्च शिक्षा प्राप्त विद्वान्, प्रोफेसर्स, इंजीनिअर, वैज्ञानिक व अन्य व्यक्ति, अन्य विषयों का ही नहीं वरन् अपने विषय का भी सर्वांगीण अध्ययन व अनुभव नहीं रखते जबकि धर्म, दर्शन आदि विषयों की पारंगता तो नहीं के बराबर है। भारत में विभिन्न उच्च दर्शनों का सद्भाव, ज्ञान-विज्ञान होते हुए भी उसका लाभ नहीं उठाते तथा किन्हीं अन्य स्थानों पर भी उसका न तो उपयोग कर पाते हैं और न ही शिक्षा, विज्ञान, नैतिकता, मानवीयता, धार्मिकता आदि का लाभ ले पाते हैं। इस अभाव को देखते हुए आचार्य श्री कनकनंदी जी गुरुदेव ने कुछ प्रबुद्ध सज्जनों एवं विद्वानों के अनुरोध पर विचार विनिमय करते हुए विद्वत्जनों की संगोष्ठी का संकल्प लिया जिसमें विभिन्न दर्शन, विज्ञान, अनेक विधाओं के विद्वानों, प्रोफेसर्स, वैज्ञानिकों को आमंत्रित करके उन्हें शोधपत्र तैयार करके प्रस्तुत करने का आह्वान किया। इसका मुख्य उद्देश्य था कि जनहित व प्राणीहित के लिए सबका समन्वय, विश्लेषण, क्रियान्वयन व फिर उसका विश्लेषण हो जिससे प्राचीन भारतीय मनीषियों द्वारा प्रदत्त ज्ञान-विज्ञान, न्याय, गणित, समाजशास्त्र व अन्य विभिन्न विधाओं का उपयोग किया जा सके तथा ज्ञान के आधुनिक व वैज्ञानिक मंचपर प्रस्तुत किया जा सके। सागवाडा में प्रथम संगोष्ठी का आयोजन हुआ तथा उसी शृंखला में उदयपुर में छठी अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठी कर्म सिद्धान्त व उसके विभिन्न अयामों पर आयोजित हुई। जिसमें विभिन्न विषयों के विद्वानों ने भाग लिया।

इस संगोष्ठी में 'कर्म सिद्धान्त व उसके विभिन्न आयाम' विषय पर चर्चा व शोध का प्रमुख कारण था। इस विषय की त्रैकालीन व सार्वभौमिक प्रासंगिकता, आधुनिक समय में भारतीय केवलियों, मनीषियों द्वारा दिये गये कर्म सिद्धान्त का अज्ञानता अथवा विपरीत धारणा तथा धूर्तता रूप से कुटिल रूप से व्याख्या करना जिससे व्यक्ति जीवन के सत्य को न जान सकें तथा स्वावलम्बी न होकर सदैव पराश्रित रहें तथा उन कुटिल प्राणियों के उदर पोषण व स्वार्थपूर्ति के साधन बने रहें।

भारतीय कर्मवाद किसी भी व्यक्ति को पराश्रित, भाग्यवादी, नियतिवादी

या प्रमत्त (आलसी) नहीं बनाता, वरन् प्रत्येक समय जीवन प्रत्येक क्षेत्र में कार्य करने के लिए तत्पर रहने व स्वावलम्बी बनने की प्रेरणा देता है। यदि कर्म सिद्धान्त के वास्तविक स्वरूप को जानें तो इतिहास में घटित दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं की पुनरावृत्ति न हो, देश, धर्म, प्राणीमात्र का विकास हो तथा हम फिर से अपने ज्ञान-विज्ञान के उच्च शिखर पर आसीन हों।

इन विभिन्न संगोष्ठियों में समय-बद्धता, अनुशासन आदि का विशेष ध्यान रखा जाता है तथा प्रत्येक शोध प्रबन्ध वाचन के पश्चात् आचार्य श्री, विभिन्न विद्वानों व सामान्यजनों द्वारा प्रश्नोत्तर किये जाने से विषयों का गहन अध्ययन होता है। इनमें किसी प्रकार का जातिवाद, धर्मवाद, परम्परावाद का पोषण नहीं होता है अपितु प्रत्येक धर्म, पंथ आदि का भेद-भाव से रहित सहयोग होता है। सभी संस्थाओं का तथा आचार्य महाराज के उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्थापित दोनों संस्थाओं, जैन, सनातन ब्राह्मण आदि सभी का सक्रिय योगदान रहता है। दोनों संस्थओं में भी विभिन्न उच्च शिक्षाविद्, प्रोफेसर्स, इंजीनियर्स, डॉक्टर्स, न्यायविद्, वैज्ञानिक आदि संलग्न हैं तथा प्रतिभागी ऐसे ही विद्वान होते हैं जिससे गुणवत्ता बनी रहती है।

कर्म सिद्धान्त व उसके विभिन्न आयामों पर प्रस्तुत शोध-पत्रों, विभिन्न प्रकार की चर्चा आदि का यह सुफल हुआ कि सभी ने उन्मुक्त कण्ठ से यह धारणा निर्धारित की कि इस संगोष्ठी से कर्म सिद्धान्त का दार्शनिक, सामाजिक व वैज्ञानिक पक्ष प्रगट भी हुआ तथा इनमें समन्वय भी हुआ जिससे जीवनमूल्यों, नैतिकता को सही अर्थों में मान्य व ग्रहण करने में हम सभी समर्थ होंगे।

संगोष्ठियों में वैज्ञानिक आधार प्रणाली, सिद्धान्त का समन्वय किया जाता है किन्तु विज्ञान की अपूर्णता, कमियों से ऊपर उठकर शाश्वतिक सत्य धर्म का प्रतिपादन किया जाता है।

इन संगोष्ठियों के क्रियान्वयन के अतिरिक्त आचार्य श्री विभिन्न प्रकार के शिविर, कक्षाएँ तथा विभिन्न सार्वजनिक स्थानों, विद्यालयों, कालेजों, कारागृह आदि में भी प्रवचन देते हैं तथा कक्षाएँ लेते हैं जिसका प्रभाव उन सम्मिलित जनों पर गहन होता है तथा वे भी सत्यमार्ग की ओर प्रवृत्त होते हैं। भविष्य में भी इसी प्रकार के गोष्ठी, शिविर आदि का निरन्तर आयोजन होता रहेगा जिससे सभी सत्य को सत्यरूप में जानकर सुखी रहें।

26 प्राचीन भारत के राष्ट्रीय एवं वैश्विक गीत/गाना का स्वरूप

(प्राचीन भारत के वैश्विक गणतंत्र/प्राणीतंत्र)

गणतंत्र दिवस पर्व मनाने की सार्थकता इस में है कि हम गणतंत्र का स्वरूप, उद्देश्य को जाने-माने, प्रचार-प्रसार करें एवं विश्व में गणतंत्र की स्थापना में अपनी महति भूमिका अदा करें। गणतंत्र (गण/व्यक्ति/लोक+तंत्र/शासन/जीवन पद्धति) के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के जो सुव्यवस्थित, सुखमय, स्वावलंम्बी, स्वतंत्र, पर पीडन से रहित, सार्वभौम, आत्मानुशासित जीवन जीने की कला है, वही गणतंत्र है, लोकतंत्र है। अर्थात् गणतंत्र जनता के द्वारा जनता के लिए, जनता का शासन है। परंतु प्राचीन भारत के महापुरुशों ने इससे भी आगे विश्व के प्राणीमात्र/जीवमात्र के सुख-शांति के जो सूत्र दिये हैं वह प्राणीतंत्र है, जीवतंत्र है। अविश्वसनीय सुखद आश्चर्य यह है कि वर्तमान के पर्यावरण सुरक्षा, पारिस्थितिकी, इकोसिस्टम, विश्व-बंधुत्व, विश्व-प्रेम, विश्व-शांति के नियम भी प्राचीन भारत के प्राणीतंत्र की ओर धीरे-धीरे विकास कर रहा है। ऐसा आध्यात्म एवं विज्ञान का समन्वय विश्व के लिए सुखावह है।

लोकतंत्र का उद्भव, प्रचार-प्रसार पाश्चात्य जगत् में हुआ और उसके प्रचारक रुसो, एंजिलो, कार्लमार्क्स, अब्राहिम लिंकन, लेनिन आदि को मानते हैं परंतु प्रायः 5128 वर्ष पहले राजा अग्रसेन ने अग्रेयगण की स्थापना की थी और लोकतंत्र के अनुसार वहाँ शासन व्यवस्था चलती थी। इसी प्रकार भ. महावीर का जन्म लोकतंत्र में हुआ था। लिच्छवि आदि गण थे, चेटक उसके राष्ट्राध्यक्ष थे। महाभारत में विस्तार से लोकतंत्र का स्वरूप, उसकी विकृति और विकृतियों को दूर करने के उपाय वर्णित हैं। इसी प्रकार अर्थशास्त्र का वर्णन चाणक्य ने विस्तार से किया जिसे चाणक्य के ''कौटल्य अथशास्त्रम्'' कहते हैं। सोमदेव सूरी ने भी ''नीति वाक्यामृतम्'' में अर्थशास्त्र के साथ-साथ राजनीति शास्त्र का भी वर्णन किया है। इसी प्रकार चाणक्य ने तथा महाभारत में वेद व्यास ने अर्थशास्त्र एवं राजनीति का विस्तृत वर्णन किया है परंतु वर्तमान में मार्शल एवं रॉबिन्स को अर्थशास्त्र का जनक मानते हैं तथा राजनीति, कानून के प्रणेता सुकरात आदि को मानते हैं। तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित अपरिग्रहवाद ही यथार्थ में अहिंसक समाजवाद है। जब अहिंसात्मक समाजवाद को पूंजीपति, शोषक वर्ग ने स्वीकार नहीं किया तब कार्लमार्क्स आदि ने हिंसात्मक पद्धति से इसका प्रचार-प्रसार किया। वर्तमान का वैश्वीकरण यह कोई नवीन विषय नहीं है।

''वसुधैव स्वकुटुम्बकम्'', ''परोस्परोपग्रहो जीवानाम्'', ''जीओ और जीने दो'' आदि प्राचीन भारतीयसिद्धान्त आधुनिक वैश्वीकरण/विश्वबंधुत्व, संयुक्त राष्ट्रसंघ आदि के नीयमों से भी अधिक व्यापक, उदार एवं समतापूर्ण है। परंतु दुःख का विषय यह हैं कि ऐसे महानतम सिद्धान्तों का अविष्कारक भारत आज किसी भी दृष्टि से स्वयं को श्रेष्ठ स्थापित नहीं कर पा रहा है/प्रस्तुतिकरण नही कर पा रहा है। विशेष जिज्ञासु मेरे (आ. कनकनंदी) द्वारा रचित 'प्रथम शोध - बोध-अविष्कार एवं प्रवक्ता' आदि का अध्ययन करें।

''विश्व भरण पोषण करे जोई, ताको भारत नाम असो होई'' अर्थात् जिस राष्ट्र ने विश्व को ज्ञान-विज्ञान, दर्शन-अध्यात्म, गणित, अहिंसा, विश्वशांति, विश्वमैत्री, पर्यावरण सुरक्षा, परस्परोपग्रहो जीवानाम्, वसुधैव कुटुम्बकम्, सर्वजीव सुखाय-सर्वजीव हिताय, राजनीति, कानून, समाज-व्यवस्था, अभ्युदय-निश्रेयस् सुख आदि सर्वोदयी सिद्धात/सूत्र देकर विश्व का भरण-पोषण किया उसे भारत कहते हैं। इसीलिए तो भारत विश्वगुरु, सोने की चिडिया, घी-दूध की नदी बहने वाला देश कहा गया है।

भारत के तीर्थंकर, बुद्ध, ऋषि,मुनि आदि महान् आध्यात्मिक वैज्ञानिकों ने आध्शत्मिक अनन्त ज्ञान से अखिल विश्व के समस्त तत्त्वों के समस्त रहस्यों को समग्रता से, पारदर्शिता से परिज्ञान करके विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया वह सत्य-तथ्य वैश्विक एवं त्रैकालिक होने से सदा-सर्वदा-सर्वत्र नित्य-नूतन, नित्य-पुरातन, समसामायिक, प्रासंगिक जीवन्त हैं। वे प्रकृतिज्ञ होने के कारण प्रकृति की सुरक्षा सम्बंधी उनका ज्ञान भी उपरोक्त प्रकार का है।

भारतीय ज्ञान-विज्ञान, संस्कृति आध्यात्मिक के साथ-साथ वैश्विक/प्राकृतिक होने के कारण भारतीय परम्परा में अखिल जीव जगत् एवं संपूर्ण प्रकृति की सुरक्षा-समृद्धि सबसे महत्वपूर्ण अंग है। इसलिए तो भारत में विश्व को स्वकुटुम्ब रूप में स्वीकार किया गया है।

अयं निज परो वेत्ति भावना लघुचेतसाम्।
उदार पुरुषाणं तु वसुधैव स्व-कुटुम्बकम्।।

क्षुद्र, संकुचित भावना युक्त व्यक्ति में अपने-पराये का निकृष्ट भेद-भाव रहता है, परंतु उदारमना संपूर्ण विश्व को अपना परिवार मानता है, जिससे व्यक्ति विश्व के प्रत्येक जीव को अपने परिवार का एक सदस्य मानकर सबके साथ प्रेम, मैत्री, उदारता, समता का व्यवहार करता है। इसको ही विश्व बंधुत्व, सर्वात्मानुभूत कहते हैं। यह है धर्म का सार, अहिंसा का आधार, विश्वशांति का

अमोघ उपाय, पर्यावरण सुरक्षा के परम्परागत सार्वभौम, शाश्वतिक, सर्वोत्कृष्ट तरीके। जैन आचार्य ने भी कहा है -

जीव जिणवर जे मुणहि जिणवर जीव मुणहि।
ते समभाव परट्ठिया लहु णिव्वाणं लहई।।

जा जीव को जिनवर एंव जिनवर को जीव मानता है, वह परम साम्यभाव में स्थित होकर अति शीघ्र निर्वाण पद को प्राप्त करता है। यह है सर्वोत्कृष्ट, साम्यवाद, गणतंत्रवाद, समाजवाद, लोकतंत्रवाद-पर्यावरण सुरक्षा।

हिंदू धर्मानुसार

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टः भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन मन्तव्यं बुद्धिमद्भिर्महात्माभिः।।

(महाभारत अनुशासन पर्व 275/19)

जैसे मानव को अपने प्राण प्यारे हैं उसी प्रकार सभी प्राणियों को भी अपने-अपने प्राण प्यारे हैं। इसीलिए जो बुद्धिमान और पुण्यशाली हैं, उन्हें चाहिए कि वे सभी प्राणियों को अपने समान समझें।

महात्मा बुद्ध ने कहा है -

यथा अहं तथा एते, यथा एते तथा अहं।
अत्तानं उपमं कत्वा, नहनेय्य न घातये।।(सुत्रनिपात 3-3-27)

जैसे मैं हूँ वैसे ये हैं, तथा जैसे ये हैं वैसा मैं हूँ - इस प्रकर आत्म दृश्य मानकर न किसी का धात करें न कराये।

सव्वे तसन्ति दण्डस्य, सव्वेसिं जीवितं पियं।
अत्तानं उपमं कत्वा, नहनेय्य न घातये।। (धम्मपद)

सब लोग दण्ड से डरते हैं, मृत्यु से भय खाते हैं। दूसरों को अपनी तरह जानकर न तो किसी को मारो और न ही किसी को मारने की प्रेरणा दो।

योन हन्ति न घातेति, न जिनति न जापते।
मित्तं सो सव्वभूतेसु वेरं तस्स न केनचिति।।(इति वृत्तक,पृ.20)

जो न स्वयं किसी का घात करता है, न दूसरों से करवाता है, न स्वयं किसी को जीतता है, न दूसरों को जीतवाता है, वह सर्व प्राणियों का मित्र है, उसका किसी के साथ वैर नहीं होता।

आत्मनः प्रतिकुलानि परेषां न समाचरेत्। (मनुस्मृति)

जो कार्य तुम्हें पसंद नहीं है, उसे दूसरों के लिए कभी मत करो।

सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं। क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।।
माध्यस्थभावं विपरीत वृत्तौ। सदा ममात्मा विदधातु देव।।

(भावना द्वात्रिंशतिका)

हे भगवन् ! मेरा प्रत्येक जीव के प्रति मैत्री भाव रहे, गुणिजनों में प्रमोद भाव रहे, दुःखीजनों के लिए करुणा भाव रहे, दुर्जनों के प्रति मेरा माध्यस्थ भाव (साम्यभाव) रहे।

आत्मवत्परत्र कुशल वृत्ति चिन्तन शक्तितःत्याग तपसी च धर्माधिगमोपायाः।

(नीतिवाक्यामृतं)

अपने ही समान दूसरे प्राणियों का हित (कल्याण) चिंतवन करना, शक्ति के अनुसार पात्रों को दान देना और तपश्चरण करना ये धर्म प्राप्ति के उपाय हैं।

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामय।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखमाप्नुयात्।।

संपूर्ण जीव जगत् सुखी, निरोगी, भद्र, विनयी, सदाचारी रहे। कोई भी कभी भी थोडे भी दुःख को प्राप्त न करे।

शिवमस्तु सर्वजगतः परहित निरता भवन्तु भूत गणाः।
दोषा प्रयान्तु नाशं, सर्वत्र सुखी भवतु लोकः।।

संपूर्ण विश्व मंगलमय हो, जीव समूह परहित में निरत रहें, संपूर्ण दोष विनाश को प्राप्त हो जावे, लो कमें सदा-सर्वदा सम्पूर्ण प्रकार से सुखी रहें।

मा काषित्काऽपि पापानि, माचभूत् कोपिदुःखितः।
मुच्चता जगदव्येषां, मति मैत्री निगद्यते ।।

कोई भी पाप कार्य को न करें, कोई भी दुःखी न रहे, जगत् दुःख, कष्ट, वैरत्व से रहित हो जावे इसी प्रकार की भावना को मैत्री भावना कहते हैं।

कायेन, मनसा वाचा सर्वेएवपि च देहिषु।
अदुःख जननी वृत्ति मैत्री, मैत्रीविदां मता।।

काय, मन, वचन से संपूर्ण जीवों के प्रति ऐसा व्यवहार करना जिससे दूसरों को कष्ट न पहुँचे इसी प्रकार के व्यवहार को मैत्री कहते हैं। पूज्यपाद स्वामी ने भी विश्व कल्याण के लिए जो भावना के सूत्र/गीत/गाना दिए हैं वे निम्न प्रकार हैं -

ओम् सर्वप्रजानां प्रभुवतु बलवान्धार्मिको भूमिपालः ।
काले-काले च सम्यक् वर्षतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम्।।
दुर्भिक्षं चौरमारिः क्षणमपि जगतां मास्म भूज्जीवलोके।
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वसौख्य प्रदायि।।

15 शांतिभक्ति

संपूर्ण प्रजा क्षेम, कुशल होवे, धार्मिक राजा (नेता) शक्ति सम्पन्न होवे, समय-समय पर इंद्रदेव (बादल) सुवृष्टि करे, रोग नाश को प्राप्त होवे, दुर्भिक्ष, चोरी, उकैती, आतंकवाद, दुःख, कलह, अशांति एक क्षण के लिए भी इस जीव जगत् में न रहें। सब जीवों को सुख प्रदान करने वाले जिनेन्द्र भगवान् का धर्मचक्र (क्षमा, अहिंसा, दया, सत्य, मैत्री, संगठन आदि) सतत् प्रवर्तमान रहे।

यस्तु सर्वाणि भूतानि, आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं, ततो न विजुगुप्सते।। (उपनिषद)

जो अन्तर्निरिक्षण के द्वारा सब भूतों (प्राणियों) को अपपनी आत्मा में ही देखता है, और अपनी आत्मा को सब भूतों में वह फिर किसी से घृणा नहीं करता है। ओम् शांतिः ! ओम् शांतिः !! ओम् शांतिः !!!

यह सब मंत्र/गाना/गीत/श्लोक प्रत्येक शुभकार्य के प्रारंभ एवं अन्त में बोला जाता था। माना जाता है कि नौवीं शताब्दी में जापान में किमिमय नामक देशभक्ति गीत गाया जाता था। यह गीत ही विश्व का प्रथम राष्ट्रीय गीत था। पहली बार 1619 में अंग्रेजों का प्रथम राष्ट्रीय गीत 'गॉड सेव द क्वीन' (किंग) गाया गया था, जिसकी रचना जॉन वुल ने की थी। संयुक्त राज्य अमेरिका का राष्ट्रीय गीत 1812 में युद्ध के दौरान लिखा गया था। ताइवान और जोर्डन के राष्ट्रीय गीत केवल चार पंक्ति के हैं।

हमारे देश का राष्ट्रीय गीत 'वन्दे मातरम्' है, जिसे बंकिमचन्द्र चटर्जी ने लिखा। इसे पहली बार 1896 इंडियन नेशनल कांग्रेस की सभा में गाया गया। 'जन गण मन' देश का राष्ट्रगान है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर की इस रचना को संविधान सभा ने 24 जनवरी 1950 को मान्यता दी। इसे पहली बार 1911 में हुए कलकत्ता अधिवेशन में गाया गया। इस का पहला प्रकाशन टैगोर द्वारा संपादित 'तवबोधिनी' पत्रिका में भारत विधाता शीर्षक से हुआ। इसके पहले पांच छंदों को ही अपनाया गया। (नरेश कुमार बंका)

राष्ट्र गान को इस गति से गाया जाता है कि लगभग 52 सेकेण्ड में यह समाप्त हो जाता है।

आचार्य श्री कनकनंदीजी गुरुदेव के संघ के विशेष कार्यक्रम

(फरवरी 2005 तक)

1. w.w.w. jainkanaknandhi.org (इंटरनेट वेबसाइट)
2. E-mail - info@jainkanaknandhi.org
3. राष्ट्रीय/अंतर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठीयाँ - 6
4. धर्म दर्शन विज्ञान प्रशिक्षण शिविरों का आयोजन - 26
5. धार्मिक प्रशिक्षण कक्षाएँ - सैकडों
6. स्वसंघ-परसंघ के साधुओं के अध्ययन-अध्यापन के कार्यक्रम - सैकडों
7. प्रश्नमंच एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम, भजन, भाषण, सेवा - सैकडों
8. बच्चों, युवक-युवतियों को संस्कारवान् बनाना एवं उनसे आहार लेना-हजारों
9. हर क्षेत्र में अच्छे व्यक्तियों को एवं संस्थाओं को पुरस्कृत करना-हजारों
10. हर विधा के वैज्ञानिक शोधपूर्ण साहित्यों का सृजन एवं प्रकाशन 146 ग्रंथ (छह भाषाओं में अनेक संस्करण)
11. कम्प्युटराइज्ड प्रतियोगिता - 5
12. गरीब, असहाय, रोगी, विपन्न मनुष्य एवं पशु-पक्षियों की सेवा-सहायता करना।
13. व्यक्ति से लेकर राष्ट्र एवं विश्व में समता-सुख-शांति-मित्रता-संगठन आदि की स्थापना के लिए प्रयास
14. धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान (बडौत, मुजफ्फरनगर, कोटा, उदयपुर, सलुम्बर, प्रतापगढ, मुंबई)
15. धर्म दर्शन सेवा संस्थान (उदयपुर, अमेरीका)

संस्थान की नियमावली :-

1. विवक्षित पुस्तक के प्रकाशक द्रव्यदाता को उस किताब की दशमांश प्रतियाँ दी जायेगी।
2. ग्रंथ प्रकाशक (द्रव्यदाता) ग्रंथमाला का आजीवन सदस्य रहेगा तथा उन्हें ग्रंथमाला से प्रकाशित पुस्तक की एक एक प्रति निःशुल्क दी

जायेगी।

3. साधु-साध्वी, विशिष्ट विद्वजन और विशिष्ट धर्मायतनों को पुस्तकें निःशुल्क दी जायेगी।

4. ग्रंथमाला से संबन्धित कार्यकर्ताओं को प्रकाशित पुस्तकों की एक एक प्रति निःशुल्क दी जायेगी।

आपका आर्थिक सहयोग :-

1. **आजीवन सदस्य** – 6,001/– रुपये
2. **संरक्षक सदस्य** – 11,001/– रुपये
3. **परम संरक्षक** – 25,001/– रुपये
4. **शिरोमणी संरक्षक** – 51,001/– रुपये
5. **परम शिरोमणी संरक्षक** – 1,00,001/– रुपये

आपका अन्य सहयोग :-

संगोष्ठी, शिविर आदि में साहित्य, पुरस्कार, आर्थिक सहायता, दानादि।

आपका नाम साहित्य में :-

संस्थान की विशेष पुस्तक, स्मारिका में संस्थान के कार्यकर्ता, मणी संरक्षक और परम शिरोमणी संरक्षक के नाम छपेंगे।

जो साहित्य कार्य में अर्थ, लेखन, श्रम, बौद्धिक सहायता करेगा में उसका नाम आयेगा और सम्मानित किया जायेगा।

आपसे प्राप्त धन का सदुपयोग :-

ज्ञानदान, आजीवन सदस्यता आदि से प्राप्त धन, गुप्तदान, त्य विक्रय से प्राप्त धन संस्थान को प्राप्त पुरस्कार का धन, साहित्य शन आदि उपर्युक्त संस्थान के कार्यक्षेत्रों में, संस्थान के वैज्ञानिक आदि में सदुपयोग किया जाता है।

नियम :-

पूरा सेट क्रय करने पर पुस्तकालय, वाचनालय, शिक्षण संस्थाओं ए 15% छूट से शास्त्र दिये जायेंगे तथा सामान्य स्वाध्याय प्रेमियों ए 10% छूट है।

डाक खर्च अलग से देय है।

आचार्य कनकनंदी द्वारा रचित ग्रंथ

क्र.	ग्रंथ का नाम	मूल्य
	अ	
1	अनेकांत सिद्धांत (द्वि. सं.)	41/-
2	अहिंसामृतम्	15/-
3	अति मानवीय शक्ति (द्वि. सं.)	21/-
4	अयोध्याका पौराणिक, ऐतिहासिक एवं राजनैतिक विश्लेषण	11/-
5	अग्नि परीक्षा	11/-
6	अनेकांत के प्रकाश में मोक्षमार्ग	21/-
7	अपुनरागमन पथः मोक्षमार्ग	05/-
8	अनुभव चिंतामणि	10/-
9	अनन्त शक्ति संपन्न परमाणु से लेकर परमात्मा	201/-
	आ	
1	आत्मोत्थानोपायः तपः	09/-
2	आ. कनकनंदी की दृष्टि में शिक्षा	11/-
3	आदर्श विचार – विहार – आहार	35/-
4	आदर्श नागरिक की प्रायोगिक क्रियायें	05/-
5	आहारदान से अभ्युदय	09/-
6	आहारदान विधि (हिंदी, मराठी)	00/-
7	आनंद की खोज (सुषमा जैन)	15/-
	इ	
1	इष्टोपदेश (आध्यात्मिक मनोविज्ञान)	51/-
	उ	
1	उपवास का धार्मिक वैज्ञानिक विश्लेषण	15/-
2	उठो! जागो! प्राप्त करो (हिंदी, कन्नड)	11/-
	ऋ	
1	ऋषभपुत्र भरत से भारत (द्वि. सं.)	21/-
	क	
1	क्रांति के अग्रदूत (द्वि.सं.)	21/-

2	कर्म का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण (द्वि. सं.)	45/-
3	कथा सुमन मालिका	15/-
4	कथा सौरभ	21/-
5	कथा पारिजात	15/-
6	कथा पुष्पांजलि	15/-
7	कथा चिंतामणि	15/-
8	कथा त्रिवेणी	08/-
9	क्रांति दृष्टा प्रवचन	11/-
10	कौन है विश्व का कर्त्ता-हर्त्ता-धर्त्ता ?	11/-
11	कर्म सिद्धांत और उसके वैज्ञानिक मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक आयाम (स्मारिका)	30/-
	ग	
1	गुरू अर्चना	03/-
	ज	
1	जीने की कला	07/-
2	ज्वलंत शंकाओं का शीतल समाधान (द्वि. सं.)	41/-
3	जैन धर्मावलंबी संख्या और उपलब्धि	21/-
4	जीवंत धर्म सेवा धर्म	11/-
5	जिनार्चना पुष्प-1 (तृ. सं.)	40/-
6	जिनार्चना पुष्प-2	21/-
	जीवन विकास एवं विनाश के सूत्र	10/-
	जैन धर्मावलम्बिओं की दिशा-दशा-आशा	05/-
	त	
	तत्वानुचिंतन	05/-
	द	
	दिगंबर जैन साधु नग्न क्यों ?	11/-
	दंसण मूलो धम्मो तहा संसार मूल हेदु मिच्छतं	15/-
	दिगंबर साधु का नग्नत्व एवं केशलोंच(हिंदी, मराठी, गुजराती)	05/-
	ध	
	धर्म विज्ञान बिंदु	15/-
	धर्म ज्ञान एवं विज्ञान	15/-
	धर्म एवं स्वास्थ विज्ञान पु.1 (द्वि.सं.)	20/-

4	धर्म एवं स्वास्थ विज्ञान पु.2	21/-
5	धर्म दर्शन विज्ञान प्रवेशिका पु.1(ष.सं.)	10/-
6	धर्म दर्शन विज्ञान प्रवेशिका पु.2(ष.सं.)	20/-
7	धर्म दर्शन विज्ञान प्रवेशिका पु.3(च.सं.)	31/-
8	धार्मिक कुरीतियों का परिशोधन	05/-
9	धर्म प्रवर्तक 24 तीर्थंकर (द्वि. सं.)	11/-
10	ध्यान का वैज्ञानिक विश्लेषण	21/-
11	धर्म, जैन धर्म तथा भ. महावीर	25/-
12	धर्म दर्शन एवं विज्ञान (द्वि.सं.)	51/-
	न	
1	नग्न सत्य का दिग्दर्शन	15/-
2	नैतिक शिक्षा एवं सामान्य ज्ञान	20/-
3	निमित्त उपादान मीमांसा (द्वि.सं.)	07/-
4	निकृष्टतम स्वार्थी तथा क्रूरतम प्राणी मनुष्य	10/-
	प	
1	पुण्य पाप मीमांसा (द्वि. सं.)	15/-
2	पार्श्वनाथ का तपोसर्ग कैवल्यधाम बिजौलिया	15/-
3	पूजा से मोक्ष, पुण्य तथा पाप भी	21/-
4	पुरूषार्थ सिद्ध्युपाय	101/-
5	प्रथम शोध बोध आविष्कार एवं प्रवक्ता	25/-
6	प्राचीन भारत की 72 कलायें	11/-
7	प्रभु अर्चना	
	ब	
1	72 कलायें	05/-
2	बाल बोध जैनधर्म	07/-
3	बंधु बंधन के मूल	41/-
4	ब्रह्माण्डीय जैविक, भौतिक एवं रसायन विज्ञान	125/-
5	ब्रह्माण्ड के रहस्य	25/-
	भ	
1	भाग्य एवं पुरूषार्थ (च.सं.) (हिंदी, मराठी)	15/-
2	भारतीय आर्य कौन-कहाँ से-कब से, कहाँ के?	25/-

3	भाव एवं भाग्य तथा अंग विज्ञान (सर्वांग विज्ञान की वैज्ञानिक गवेषणा)	151/-
4	भविष्य फल विज्ञान	101/-
5	भगवान् महावीर तथा उनका दिव्य संदेश	05/-
6	भारत को पुनः विश्व गुरू बनाने के लिए समग्र क्रांति चाहिए	11/-
7	भ्रष्टाचार उन्मूलन	10/-
8	भारत को गारत एवं महान् भारत बनाने के सूत्र	10/-
9	भारत के सर्वोदय के उपाय	05/-
	म	
1	मनन एवं प्रवचन	05/-
2	मंत्र विज्ञान (द्वि. सं.)	25/-
3	मानवीय निकृष्ट संघर्ष का इतिहास	10/-
	य	
1	युग निर्माता भ. ऋषभदेव (द्वि. सं.)	41/-
2	युग निर्माता भ. ऋषभदेव (पद्यानुवाद)	05/-
3	ये कैसे धर्मात्मा निर्व्यसनी-राष्ट्रसेवी	11/-
	ल	
1	लेश्या मनोविज्ञान (द्वि. सं.)	11/-
	व	
1	विनय मोक्ष द्वार	06/-
2	विश्व विज्ञान रहस्य	100/-
3	विश्व इतिहास	25/-
4	विश्व धर्म सभा (समवशरण)	21/-
5	विश्व द्रव्य विज्ञान (द्रव्य संग्रह)	41/-
6	व्यसन का धार्मिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण	30/-
7	विश्व शांति के अमोघ उपाय (द्वि.सं.)	10/-
8	विश्व धर्म के दस लक्षण	41/-
9	विश्व प्रतिविश्व एवं श्याम विवर	25/-
0	व्यक्ति एवं समाज निर्माण के आद्य कर्तव्य	15/-
	विज्ञान को भी अविज्ञात सत्य	20/-

	श	
1	शकुन विज्ञान	30/-
2	शाश्वत समस्याओं का समाधान	18/-
3	शिक्षा शोधक स्मारिका (तृ.रा.वै.सं.)	100/-
4	शांति क्रांति के विश्व नेता बनने के उपाय	41/-
5	शोधपूर्ण ग्रंथ तथा ग्रंथ कर्ता आ. कनकनंदी	10/-
	स	
1	संघठन के सूत्र (द्वि. सं.)	25/-
2	संस्कार (हिंदी, गुजराती, कन्नड)	05/-
3	संस्कार (बृहत्)	30/-
4	स्वप्न विज्ञान (द्वि. सं.)	51/-
5	समग्र क्रांति के उपाय	15/-
6	स्वतंत्रता के सूत्र (द्वि.सं.)	101/-
7	सत्यधर्म	05/-
8	सत्यसाम्यसुखमृतम् (प्रवचनसार)	301/-
9	सर्वोदय शिक्षा मनोविज्ञान (बृहत्)	201/-
10	सर्वोदय शिक्षा मनोविज्ञान (छोटा)	21/-
11	संस्कार (मराठी)	10/-
12	स्मारिका (प्रथम संगोष्ठि)	81/-
13	स्मारिका (द्वितिय संगोष्ठि)	51/-
14	सत्यान्वेषी आ. कनकनंदी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व	05/-
15	संस्कृति की विकृति	10/-
16	समवशरण (आचार्य श्री से भेट वार्ता)	11/-
17	सेवा धर्म जीवंत धर्म	11/-
18	संस्कार और हम	25/-
	ह	
1	हिंसामय यज्ञ का प्रारंभ क्यों ?	07/-
2	हिंसा की प्रतिक्रिया है-प्राकृतिक प्रकोपादि	25/-
	क्ष	
1	क्षमा वीरस्य भूषणम् (तृ. सं.)	21/-

त्र

1	त्रैलोक्य पूज्य ब्रह्मचर्य (द्वि. सं.)	25/-

श्र

1	श्रमण संघ संहिता	30/-

F

1	Fate and efforts	15/-

L

1	Leshya Psychology	11/-

M

1	Moral Education	India	25/-
		U.S.A.	5 $

N

1	Nakedness of Digambar Jain Saints and Kesh Lonch	05/-

S

1	Sanskaras	05/-
2	Sculptor of the "Rishabhadev"	51/-

P

1	Phylosophy of scientific religion	21/-

W

1	What kinds of 'Dharmatma' (piousman) these are	21/-

षष्टम् अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी में मार्गदर्शन करते हुए
आ. श्री कनकनंदी जी (इनसेट में) एवं विद्वत् श्रोतागण

षष्टम् अंतर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठी में आ.श्री के
संघस्था साध्वी कलाश्री, ऋद्धिश्री क्षु.तीर्थवाणी एवं
शोधपत्र प्रस्तुत करते हुए महासमणी मल्लिप्रज्ञा जी एवं चैतनप्रज्ञा जी

षष्टम् अंतर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठी में विचार व्यक्त करते हुए
मेवाड महामंडलेश्वर महंत श्री मुरली मनोहर शरण शास्त्री

आचार्य कनकनंदी जी द्वारा रचित कुछ ग्रंथ

प्रकाशक :– धर्म दर्शन सेवा संस्थान एवं
धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान